समालोचनार्थ.

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला

: ५ :

जैन आचार

मोहनलाल मेहता

एम. ए. (दर्शन व मनोविज्ञान), पी-एच. डी., शास्त्राचार्य

अध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

वाराणसी–५

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

जै ना श्र म

हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी–५

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी–५

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१

प्रकाशन-वर्ष :
सन् १९६६

मूल्य :
पाँच रुपये

स म र्प ण

पार्श्वनाथ विद्याश्रम के प्राण
लाला हरजसराय जैन को
सादर-सस्नेह

प्राक्कथन

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा ने सन् १९५९ में लेखक का 'जैन दर्शन' प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ का हिन्दी-जगत् में उल्लेखनीय स्वागत हुआ। राजस्थान सरकार ने एक सहस्र रुपये तथा स्वर्णपदक एवं उत्तर-प्रदेश सरकार ने पाँच सौ रुपये प्रदान कर लेखक को पुरस्कृत व सम्मानित किया।

जैन दर्शनशास्त्र पर प्रकाशित उपर्युक्त कृति के समान ही प्रस्तुत ग्रन्थ जैन आचारशास्त्र पर अपने ढंग की एक विशिष्ट कृति है। इसका निर्माण इस ढंग से किया गया है कि भारतीय धर्म व दर्शन का सामान्य परिचय रखनेवाला जिज्ञासु इसे सरलता से समझ सकेगा। विद्यालयों, महा-विद्यालयों व विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए भी यह उपयोगी सिद्ध होगा।

जैन आचार कर्मवाद पर प्रतिष्ठित है। कर्मवाद का आधार आत्मवाद है। आत्मवाद का पोषण करनेवाले तत्त्व हैं अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्तदृष्टि।

जैन आचारशास्त्र में चारित्र-विकास अर्थात् आत्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाएँ स्वीकार की गई हैं। आत्मिक गुणों के विकास की इन अवस्थाओं को गुणस्थान कहा गया है। गुणस्थानों का निरूपण मोहशक्ति की प्रबलता-दुर्बलता के आधार पर किया गया है।

जैन आचार दो रूपों में उपलब्ध होता है: श्रावकाचार और श्रमणा-चार। वर्णाश्रम जैसी कोई व्यवस्था जैन आचारशास्त्र में मान्य नहीं है। किसी भी वर्ण का एवं किसी भी आश्रम में स्थित व्यक्ति श्रावक के अथवा श्रमण के व्रत ग्रहण कर सकता है। श्रावक देशविरति अर्थात् आंशिक

वैराग्य के कारण अणुव्रतों अर्थात् छोटे व्रतों का पालन करता है। श्रमण सर्वविरति अर्थात् सम्पूर्ण वैराग्य के कारण महाव्रतों अर्थात् बड़े व्रतों का पालन करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचारांगादि जैन आगमों के आधार पर श्रावकाचार एवं श्रमणाचार का सुव्यवस्थित प्रतिपादन किया गया है। अन्तिम प्रकरण में श्रमण-संघ का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान से हो रहा है, यह विशेष हर्ष की बात है। भविष्य मे संस्थान जैनविद्या से सम्बन्धित अन्य अनेक उपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन करने के लिए कृतसंकल्प है।

ग्रन्थ को संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना के लिए मै डा० देवराज, अध्यक्ष, भारतीय दर्शन व धर्म विभाग, काशी विश्वविद्यालय का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। सुन्दर मुद्रण के लिए महावीर प्रेस के सुयोग्य संचालक श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल का तथा प्रूफ-संशोधन आदि के लिए संस्थान के शोध-सहायक पं० कपिलदेव गिरि का हृदय से आभार मानता हूँ।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–५
२–८–१९६६

मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति में मुख्यतः दो विचारधाराओं का सम्मिश्रण एवं समन्वय हुआ है। एक विचारधारा मूलतः वैदिक सभ्यता की थी और दूसरी श्रमण सभ्यता की। वैदिक सभ्यता के आधारस्तम्भ ऋग्वेद आदि संहिता-ग्रन्थ तथा ब्राह्मण ग्रन्थ थे। श्रमण सभ्यता की प्रतिनिधि अभिव्यक्ति जैनधर्म, हिन्दुओं के सांख्य दर्शन तथा बौद्धधर्म मे हुई। कुछ लोग वैदिक अथवा ब्राह्मण संस्कृति अर्थात् वह संस्कृति जिसपर ब्राह्मण पुरोहितों का विशेष प्रभाव था और श्रमण संस्कृति के भेद को स्वीकार नहीं करते; किन्तु यह मानना ही होगा कि इन दो विचारधाराओ मे पर्याप्त विषमता थी। संहिता-काल के आर्य मुख्यतः प्रवृत्तिवादी जीवनदृष्टि के अनुगामी थे, जबकि जैन-बौद्ध-धर्मों में निवृत्तिपरक जीवन पर गौरव था। स्वयं वैदिक आर्यों के बीच निवृत्ति-धर्म का उदय उपनिषदों में देखा जा सकता है। इसीलिए कुछ अन्वेषकों का विचार है कि निवृत्तिपरक जीवनदृष्टियों का सामान्य उत्स उपनिषद्-साहित्य है। किन्तु जैनधर्म की प्राचीनता और महाभारत आदि में सांख्यों के ज्ञानमार्ग एवं प्रवृत्तिपरक वैदिक धर्म के विरोध की चर्चाएँ यह संकेत देती है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के पोषक दर्शनों का विकास भिन्न समुदायों के बीच हुआ।

भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि की प्रमुख विशेषता मोक्षतत्त्व की स्वीकृति और उसके सम्बन्ध में व्यवस्थित चिन्तन है; ये दोनों ही चीजें हमें मुख्यतः श्रमण-संस्कृति के धार्मिक नेताओं से प्राप्त हुई। आगे चलकर, जब हमारी संस्कृति में प्रवृत्ति एवं निवृत्तिपरक विचारधाराओं का समन्वय हुआ, तो यह निश्चित किया गया कि मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष

ही है, जिसकी उपलब्धि अनेक मार्गों से चलकर की जा सकती है। मनु आदि धर्माचार्यों ने वर्णाश्रम की कल्पना की और यह प्रतिपादित किया कि प्रत्येक मनुष्य स्वधर्म का पालन करते हुए मोक्ष नामक चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है। गीता में कहा गया है—'स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः', अर्थात् अपने-अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप (निष्काम भाव से) कर्म करता हुआ मनुष्य परम सिद्धि यानी मोक्ष को प्राप्त करता है। गीता, मनु आदि का यह मन्तव्य प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों का समन्वय रूप था।

जैन तथा बौद्ध धर्मों ने वर्णाश्रम के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। इनमें बौद्धधर्म मुख्यतः भिक्षुओं का निवृत्तिपरक धर्म बन गया। किन्तु जैनधर्म ने, हिन्दूधर्म की भाँति, गृहस्थों के लिए भी मुक्ति का द्वार खुला रखा। प्रस्तुत पुस्तक में जैनधर्म-सम्मत श्रमण-धर्म के साथ-साथ श्रावकों यानी गृहस्थों के धर्माचार का भी व्यवस्थित वर्णन है। इसके लेखक डा० मोहनलाल मेहता सामान्यतः भारतीय दर्शन के और विशेषतः जैन दर्शन के अधिकारी विद्वान् हैं। अब तक ये जैन दर्शन, जैन मनोविज्ञान आदि विषयों पर अनेक प्रामाणिक कृतियोंका प्रणयन कर चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन्होंने जैन दृष्टि से श्रावकधर्म तथा श्रमणधर्म का विस्तृत एवं विशद विवेचन किया है। यों तो भारत के सभी धर्मों में विचारों एवं आचरण के सामंजस्य पर गौरव दिया गया है, किन्तु जैन दर्शन में यह गौरव अधिक स्पष्ट है। सांख्य एवं अद्वैत वेदान्त के अनुयायी कह सकते हैं कि केवल ज्ञान से मुक्ति हो सकती है, किन्तु जैनधर्म यह स्पष्ट घोषणा करता है कि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र—ये तीनों मिलकर ही मोक्ष नामक परिणाम को उत्पन्न करते हैं।

काशी विश्वविद्यालय
वाराणसी—५
२२.८.६६

देवराज

प्रस्तुत ग्रन्थ में

जै
न
आ
चा
र

जै ना चा र की भू मि का

आचार और विचार

वैदिक दृष्टि

औपनिषदिक रूप

सूत्र, स्मृतियाँ व धर्मशास्त्र

कर्ममुक्ति

आत्मविकास

कर्मपथ

जैनाचार व जैन विचार

कर्मबन्ध व कर्ममुक्ति

आत्मवाद

अहिंसा और अपरिग्रह

अनेकान्तदृष्टि

: १ : जैनाचार की भूमिका

आचार और विचार परस्पर सम्बद्ध ही नहीं, एक-दूसरे के पूरक भी हैं। संसार में जितनी भी ज्ञान-शाखाएँ हैं, किसी न किसी रूप में आचार अथवा विचार अथवा दोनों से सम्बद्ध हैं। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए ऐसी ज्ञान-शाखाएँ अनिवार्य हैं जो विचार का विकास करने के साथ ही साथ आचार को भी गति प्रदान करें। दूसरे शब्दों में जिन विद्याओं में आचार विचार, दोनों के बीज मौजूद हों वे ही व्यक्तित्व का वास्तविक विकास कर सकती हैं। जब तक आचार को विचारों का सहयोग प्राप्त न हो अथवा विचार आचार रूप में परिणत न हों तब तक जीवन का यथार्थ विकास नहीं हो सकता। इसी दृष्टि से आचार और विचार को परस्पर सम्बद्ध एवं पूरक कहा जाता है।

आचार और विचार :

विचारों अथवा आदर्शों का व्यावहारिक रूप आचार है। आचार की आधारशिला नैतिकता है। जो आचार नैतिकता पर प्रतिष्ठित नहीं है वह आदर्श आचार नहीं कहा जा सकता। ऐसा आचार त्याज्य है। समाज में धर्म की प्रतिष्ठा इसीलिए है कि वह नैतिकता पर प्रतिष्ठित है। वास्तव में धर्म की उत्पत्ति मनुष्य के भीतर रही हुई उस भावना के आधार पर ही होती है जिसे हम नैतिकता कहते हैं। नैतिकता का आदर्श जितना उच्च

होता है, धर्म की भूमिका भी उतनी ही उन्नत होती है। नैतिकता केवल भौतिक अथवा शारीरिक मूल्यों तक ही सीमित नहीं होती। उसकी दृष्टि में आध्यात्मिक अथवा मानसिक मूल्यों का अधिक महत्त्व होता है। संकुचित अथवा सीमित नैतिकता की अपेक्षा विस्तृत अथवा अपरिमित नैतिकता अधिक बलवती होती है। वह व्यक्तित्व का यथार्थ एवं पूर्ण विकास करती है।

धर्म का सार आध्यात्मिक सर्जन अथवा आध्यात्मिक अनुभूति है। इस प्रकार के सर्जन अथवा अनुभूति का विस्तार ही धर्म का विकास है। जो आचार इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो वही धर्ममूलक आचार है। इस प्रकार का आचार नैतिकता की भावना के अभाव में सम्भव नहीं। ज्यों-ज्यों नैतिक भावनाओं का विस्तार होता जाता है त्यों-त्यों धर्म का विकास होता जाता है। इस प्रकार का धर्मविकास ही आध्यात्मिक विकास है। आध्यात्मिक विकास की चरम अवस्था का नाम ही मोक्ष अथवा मुक्ति है। इस मूलभूत सिद्धान्त अथवा तथ्य को समस्त आत्मवादी भारतोय दर्शनों ने स्वीकार किया है।

दर्शन का सम्बन्ध विचार अथवा तर्क से है, जबकि धर्म का सम्बन्ध आचार अथवा व्यवहार से है। दर्शन हेतुवाद पर प्रतिष्ठित होता है जबकि धर्म श्रद्धा पर अवलम्बित होता है। आचार के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है जबकि विचार के लिए तर्क की। आचार व विचार अथवा धर्म व दर्शन के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं। एक विचारधारा के अनुसार आचार व

विचार अर्थात् धर्म व दर्शन अभिन्न हैं। इनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। आचार की सत्यता विचार में ही पाई जाती है एवं विचार का पर्यवसान आचार में ही देखा जाता है। दूसरी विचारधारा के अनुसार आचार व विचार अर्थात् धर्म व दर्शन एक-दूसरे से भिन्न हैं। तर्कशील विचारक का इससे कोई प्रयोजन नहीं कि श्रद्धाशील आचरणकर्ता किस प्रकार का व्यवहार करता है। इसी प्रकार श्रद्धाशील व्यक्ति यह नहीं देखता कि विचारक क्या कहता है। तटस्थ दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि आचार और विचार व्यक्तित्व के समान-शक्तिवाले अन्योन्याश्रित दो पक्ष हैं। इन दोनों पक्षों का संतुलित विकास होने पर ही व्यक्तित्व का विशुद्ध विकास होता है। इस प्रकार के विकास को हम ज्ञान और क्रिया का संयुक्त विकास कह सकते हैं जो दुःखमुक्ति के लिए अनिवार्य है।

आचार और विचार की अन्योन्याश्रितता को दृष्टि में रखते हुए भारतीय चिन्तकों ने धर्म व दर्शन का साथ-साथ प्रतिपादन किया। उन्होंने तत्त्वज्ञान के साथ ही साथ आचारशास्त्र का भी निरूपण किया एवं बताया कि ज्ञानविहीन आचरण नेत्रहीन पुरुष की गति के समान है जबकि आचरणरहित ज्ञान पंगु पुरुष की स्थिति के सदृश है। जिस प्रकार अभीष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए निर्दोष आँखें व पैर दोनों आवश्यक हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक सिद्धि के लिए दोषरहित ज्ञान व चारित्र दोनों अनिवार्य हैं।

भारतीय विचार-परम्पराओं में आचार व विचार दोनों को

समान स्थान दिया गया है। उदाहरण के लिए मीमांसा-परम्परा का एक पक्ष पूर्वमीमांसा आचारप्रधान है जबकि दूसरा पक्ष उत्तरमीमांसा (वेदान्त) विचारप्रधान है। सांख्य और योग क्रमशः विचार और आचार का प्रतिपादन करनेवाले एक ही परम्परा के दो अंग हैं। बौद्ध-परम्परा में हीनयान और महायान के रूप में आचार और विचार की दो धाराएँ हैं। हीनयान आचारप्रधान है तथा महायान विचारप्रधान। जैन-परम्परा में भी आचार और विचार को समान स्थान दिया गया है। अहिंसामूलक आचार एवं अनेकांतमूलक विचार का प्रतिपादन जैन विचार-धारा की विशेषता है।

वैदिक दृष्टि :

भारतीय साहित्य में आचार के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। वैदिक संहिताओं में लोकजीवन का जो प्रतिबिम्ब मिलता है उससे प्रकट होता है कि लोगों में प्रकृति के कार्यों के प्रति विचित्र जिज्ञासा थी। उनकी धारणा थी कि प्रकृति के विविध कार्य देवों के विविध रूप थे, विविध देव प्रकृति के विविध कार्यों के रूप में अभिव्यक्त होते थे। ये देव अपनी प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता के आधार पर उनका हित-अहित कर सकते थे इसलिए लोग उन्हें प्रसन्न रखने अथवा करने के लिए उनकी स्तुति करते, उनकी यशोगाथा गाते। स्तुति करने की प्रक्रिया अथवा पद्धति का धीरे-धीरे विकास हुआ एवं इस मान्यता ने जन्म लिया कि अमुक ढंग से अमुक प्रकार के उच्चारणपूर्वक की जानेवाली स्तुति ही

फलवती होती है। परिणामतः यज्ञयागादि का प्रादुर्भाव हुआ एवं देवों को प्रसन्न करने की एक विशिष्ट आचार-पद्धति ने जन्म लिया। इस आचारपद्धति का प्रयोजन लोगों की ऐहिक सुख-समृद्धि एवं सुरक्षा था। लोगों के हृदय में सत्य, दान, आदि के प्रति मान था। विविध प्रकार के नियमों, गुणों, दण्डों के प्रवर्तकों के रूप में विभिन्न देवों की कल्पना की गई।

औपनिषदिक रूप :

उपनिषदों में ऐहिक सुख को जीवन का लक्ष्य न मानते हुए श्रेयस् को परमार्थ माना गया है तथा प्रेयस् को हेय एवं श्रेयस् को उपादेय बताया गया है। इस जीवन को अन्तिम सत्य न मानते हुए परमात्मतत्त्व को यथार्थ कहा गया है। आत्म-तत्त्व का स्वरूप समझाते हुए इसे शरीर, मन, इन्द्रियों से भिन्न बताया गया है। इसी दार्शनिक भित्ति पर सदाचार, सन्तोष, सत्य आदि आत्मिक गुणों का विधान किया गया है एवं इन्हें आत्मानुभूति के लिए आवश्यक बताया गया है। इन गुणों के आचरण से श्रेयस् की प्राप्ति होती है। श्रेयस् के मार्ग पर चलनेवाले विरले ही होते हैं। संसार के समस्त प्रलोभन श्रेयस् के सामने नगण्य हैं—तुच्छ हैं।

सूत्र, स्मृतियाँ व धर्मशास्त्र :

सूत्रों, स्मृतियों व धर्मशास्त्रों में मनुष्य के जीवन की निश्चित योजना दृष्टिगोचर होती है। इनमें मानव-जीवन के कर्तव्य-अकर्तव्यों

के विषय में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। वैदिक विधि-विधानों के साथ ही साथ सामाजिक गुणों एवं आध्यात्मिक विशुद्धियों का भी विचार किया गया है। संक्षेप में कहा जाय तो इनमें भौतिक सुखों एवं आत्मिक गुणों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। सूत्रों व धर्मशास्त्रों में मानव-जीवन के चार सोपान—चार आश्रम निर्धारित किये गये हैं जिनके अनुसार आचरण करने पर मनुष्य का जीवन सफल माना जाता है। इन चार आश्रमों के पारिभाषिक नाम ये हैं: ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम व संन्यासाश्रम। ब्रह्मचर्याश्रम में शारीरिक व मानसिक अनुशासन का अभ्यास किया जाता है जो सारे जीवन की भूमिका का काम करता है। गृहस्थाश्रम सांसारिक सुखों के अनुभव व कर्तव्यों के पालन के लिए है। वानप्रस्थाश्रम सांसारिक प्रपंचों के आंशिक त्याग का प्रतीक है। आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति के लिए सांसारिक सुख-सुविधाओं के हेतु किये जानेवाले प्रपंचों का सर्वथा त्याग करना संन्यासाश्रम है। इन चार आश्रमों के साथ ही साथ चार प्रकार के वर्णों के कर्तव्याकर्तव्यों के लिए आचारसंहिता भी बनाई गई। आचार के दो विभाग किये गये: सब वर्णों के लिए सामान्य आचार और प्रत्येक वर्ण के लिए विशेष आचार। जिस प्रकार प्रत्येक आश्रम के लिए विभिन्न कर्तव्यों का निर्धारण किया गया उसी प्रकार प्रत्येक वर्ण के लिए विभिन्न कर्तव्य निश्चित किये गये, जैसे ब्राह्मण के लिए अध्ययन-अध्यापन, क्षत्रिय के लिए रक्षण-प्रशासन, वैश्य के लिए व्यापार-व्यवसाय एवं शूद्र

के लिए सेवा-शुश्रूषा। इसी व्यवस्था अर्थात् आचारसंहिता का नाम वर्णाश्रम-धर्म अथवा वर्णाश्रम-व्यवस्था है।

कर्ममुक्ति :

भारतीय आचारशास्त्र का सामान्य आधार कर्मसिद्धान्त है। कर्म का अर्थ है चेतनाशक्ति द्वारा की जानेवाली क्रिया का कार्य-कारणभाव। जो क्रिया अर्थात् आचार इस कार्य-कारण की परम्परा को समाप्त करने में सहायक है वह आचरणीय है। इससे विपरीत आचार त्याज्य है। विविध धर्मग्रन्थों, दर्शनग्रन्थों एवं आचारग्रन्थों में जो विधिनिषेध उपलब्ध हैं, इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं। योग-विद्या का विकास इस दिशा में एक महान् प्रयत्न है। भारतीय विचारकों ने कर्ममुक्ति के लिए ज्ञान, भक्ति एवं ध्यान का जो मार्ग बताया है वह योग का ही मार्ग है। ज्ञान, भक्ति एवं ध्यान को योग की ही संज्ञा दी गई है। इतना ही नहीं, अनासक्त कर्म को भी योग कहा गया है। आत्मनियन्त्रण अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध के लिए योग अनिवार्य है। योग चेतना की उस अवस्था का नाम है जिसमें मन व इन्द्रियाँ अपने विषयों से विरत होने का अभ्यास करते हैं। ज्यों-ज्यों योग की प्रक्रिया का विकास होता जाता है त्यों-त्यों आत्मा अपने-आप में लीन होती जाती है। योगी को जिस आनन्द व सुख की अनुभूति होती है वह दूसरों के लिए अलभ्य है। वह आनन्द व सुख बाह्य पदार्थों पर अवलम्बित नहीं होता अपितु आत्मावलम्बित होता है। आत्मा का अपनी स्वाभाविक विशुद्ध अवस्था में निवास

करना ही वास्तविक सुख है। यह सुख जिसे हमेशा के लिए प्राप्त हो जाता है वह कर्मजन्य सुख-दुःख से मुक्त हो जाता है। यही मोक्ष, मुक्ति अथवा निर्वाण है।

कर्म से मुक्त होना इतना आसान नहीं है। योग की साधना करना इतना सरल नहीं है। इसके लिए धीरे-धीरे निरन्तर प्रयत्न करना पड़ता है। आचार व विचार की अनेक कठिन अवस्थाओं से गुजरना होता है। आचार के अनेक नियमों एवं विचार के अनेक अंकुशों का पालन करना पड़ता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए विभिन्न आत्मवादी दर्शनों ने कर्ममुक्ति के लिए आचार के विविध नियमों का निर्माण किया तथा आत्म-विकास के विभिन्न अंगों तथा रूपों का प्रतिपादन किया।

आत्मविकास :

वेदान्त में सामान्यतया आत्मिक विकास के सात अंग अथवा सोपान माने गये हैं। प्रथम अंग का नाम शुभ इच्छा है। इसमें वैराग्य अर्थात् सम्यक् पथ पर जाने की भावना होती है। द्वितीय अंग विचारणारूप है। इसमें शास्त्राध्ययन, सत्सं-गति तथा तत्त्व का मूल्यांकन होता है। तृतीय अंग तनुमानस रूप है जिसमें इन्द्रियों और विषयों के प्रति अनासक्ति होती है। इसके बाद की जो अवस्था है उसमें मानसिक विषयों का निरोध प्रारम्भ होकर मन की शुद्धि होती है। इस अवस्था का नाम सत्यापत्ति है। इसके बाद पदार्थभावनी अवस्था आती है जिसमें बाह्य वस्तुओं का मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

सातवां अंग तुरीयगा कहलाता है। इसमें पदार्थों का मन से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता तथा आत्मा का सत्, चित् व आनन्द-रूप ब्रह्म से एकाकार हो जाता है। यह अवस्था निर्विकल्पक समाधिरूप है।

योगदर्शन का अष्टांग योग प्रसिद्ध ही है। प्रथम अंग यम में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह का समावेश होता है। द्वितीय अंग नियम में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान का समावेश किया जाता है। तृतीय अंग का नाम आसन है। चतुर्थ अंग प्राणायामरूप है। पांचवां अंग प्रत्या-हार, छठा धारणा, सातवां ध्यान व आठवां समाधि कहलाता है। निर्विकल्प समाधि आत्मविकास की अंतिम अवस्था होती है जिसमें आत्मा अपने स्वाभाविक रूप में अवस्थित हो जाती है।

कर्मपथ :

मीमांसा व स्मृतियों आदि में क्रियाकाण्ड पर अधिक भार दिया गया है जबकि सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त आदि आत्मशुद्धि पर विशेष जोर देते हैं। बौद्धों के अनुसार हमारी समस्त प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं : ज्ञात और अज्ञात। इन्हें बौद्ध परिभाषा में विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति कहा जाता है। जब कोई व्यक्ति परोक्ष अर्थात् अज्ञात रूप से किसी अन्य द्वारा किसी प्रकार का पापकार्य करता है तो वह अविज्ञप्ति-कर्म करता है। जो जानबूझ कर अर्थात् ज्ञातरूप से पापक्रिया करता है वह विज्ञप्ति-कर्म करता है। यही बात शुभ प्रवृत्ति के विषय में भी

है। अतः शील भी विज्ञप्ति व अविज्ञप्ति रूप दो प्रकार का है। बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्येक क्रिया के तीन भाग होते हैं: प्रयोग, कर्मपथ और पृष्ठ। क्रिया की तैयारी करना प्रयोग है। वास्तविक क्रिया कर्मपथ है। अनुगामिनी क्रिया का नाम पृष्ठ है। उदाहरण के रूप में चोरी को लें। जब कोई चोरी करना चाहता है तो अपने स्थान से उठता है, आवश्यक साधन-सामग्री लेता है, दूसरे के घर जाता है, चुपचाप घर में घुसता है, रुपये-पैसे व अन्य वस्तुएं ढूंढता है और उन्हें वहाँ से उठाता है। यह सब प्रयोग के अन्तर्गत है। चोरी का सामान लेकर वह घर से बाहर निकलता है, यही कर्मपथ है। उस सामान को वह अपने साथियों में बांटता है, बेचता है अथवा छिपाता है, यह पृष्ठ है। ये तीनों प्रकार विज्ञप्ति व अविज्ञप्तिरूप होते हैं। इतना ही नहीं, एक प्रकार का कर्मपथ दूसरे प्रकार के कर्मपथ का प्रयोग अथवा पृष्ठ बन सकता है। इसी प्रकार अन्य पापों एवं शुभ क्रियाओं के भी तीन विभाग कर लेने चाहिए! वस्तुतः प्रयोग, कर्मपथ व पृष्ठ प्रवृत्ति की अथवा आचार की तीन अवस्थाएं हैं। इन्हें प्रवृत्ति के तीन सोपान भी कह सकते हैं। किस प्रकार की प्रवृत्ति अर्थात् कर्म से किस प्रकार का फल प्राप्त होता है, इसका भी बौद्ध साहित्य में पूरी तरह विचार किया गया है। वह विचार बौद्ध आचारशास्त्र की भूमिकारूप है।

जैनाचार व जैन विचार :

जैनाचार की मूल भित्ति कर्मवाद है। इसी पर जैनों का

अहिंसावाद, अपरिग्रहवाद एवं अनीश्वरवाद प्रतिष्ठित है। कर्म का साधारण अर्थ कार्य, प्रवृत्ति अथवा क्रिया है। कर्मकाण्डी यज्ञ आदि क्रियाओं को कर्म कहते हैं। पौराणिक व्रत-नियम आदि को कर्मरूप मानते हैं। जैन परम्परा में कर्म दो प्रकार का माना गया है : द्रव्यकर्म व भावकर्म। कार्मण पुद्गल अर्थात् जड़तत्त्व विशेष जो कि जीव के साथ मिल कर कर्म के रूप में परिणत होता है, द्रव्यकर्म कहलाता है। यह ठोस पदार्थरूप होता है। द्रव्यकर्म की यह मान्यता जैन कर्मवाद की विशेषता है। आत्मा के अर्थात् प्राणी के राग-द्वेषात्मक परिणाम अर्थात् चित्तवृत्ति को भावकर्म कहते हैं। दूसरे शब्दों में प्राणी के भावों को भावकर्म तथा भावों द्वारा आकृष्ट सूक्ष्म भौतिक परमाणुओं को द्रव्यकर्म कहते हैं। यह एक मूलभूत सिद्धान्त है कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध प्रवाहतः अनादि है। प्राणी अनादि काल से कर्मपरम्परा में पड़ा हुआ है। चैतन्य और जड़ का यह सम्मिश्रण अनादिकालीन है। जीव पुराने कर्मों का विनाश करता हुआ नवीन कर्मों का उपार्जन करता जाता है। जब तक उसके पूर्वोपार्जित समस्त कर्म नष्ट नहीं हो जाते—आत्मा से अलग नहीं हो जाते तथा नवीन कर्मों का उपार्जन बंद नहीं होजाता—नया बंध रुक नहीं जाता तब तक उसकी भवभ्रमण से मुक्ति नहीं होती। एक बार समस्त कर्मों का नाश हो जाने पर पुनः नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता क्योंकि उस अवस्था में कर्मोपार्जन का कोई कारण विद्यमान नहीं रहता। आत्मा की इसी अवस्था का नाम मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण अथवा सिद्धि है। इस अवस्था में आत्मा

अपने असली रूप में रहता है। आत्मा का यही रूप जैनदर्शन का ईश्वर है। परमेश्वर अथवा परमात्मा इससे भिन्न कोई विशेष व्यक्ति नहीं है। जो आत्मा है वही परमात्मा है : जे अप्पा से परमप्पा।

कर्मवाद नियतिवाद अथवा अनिवार्यतावाद नहीं है। कर्म-सिद्धान्त यह नहीं मानता कि प्राणी को नियत समय में उपार्जित कर्म का फल भोगना ही पड़ता है अथवा नवीन कर्म का उपार्जन करना ही पड़ता है। यह सत्य है कि प्राणी को स्वोपार्जित कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है किन्तु इसमें उसके पश्चात्-कालीन पराक्रम, पुरुषार्थ अथवा आत्मवीर्य के अनुसार न्यूनाधिकता तथा शीघ्रता अथवा देरी हो सकती है। इसी प्रकार वह नवीन कर्म का उपार्जन करने में भी अमुक सीमा तक स्वतन्त्र होता है। आन्तरिक शक्ति तथा आचार की परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए व्यक्ति अमुक सीमा तक नये कर्मों के आगमन को रोक सकता है। इस प्रकार जैन कर्मसिद्धान्त में सीमित इच्छास्वातन्त्र्य स्वीकार किया गया है।

कर्मबन्ध व कर्ममुक्ति :

जैन कर्मवाद में कर्मोपार्जन के दो कारण माने गये हैं : योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन के सामान्य व्यापार को जैन परिभाषा में योग कहते हैं। दूसरे शब्दों में जैन परिभाषा में प्राणी की प्रवृत्तिसामान्य का नाम योग है। कषाय मन का व्यापारविशेष है। यह क्रोधादि मानसिक आवेगरूप है। यह लोक

कर्म की योग्यता रखने वाले परमाणुओं से भरा हुआ है। जब प्राणी अपने मन, वचन अथवा तन से किसी प्रकार की प्रवृत्ति करता है तब उसके आस-पास रहे हुए कर्मयोग्य परमाणुओं का आकर्षण होता है अर्थात् आत्मा अपने चारों ओर रहे हुए कर्म-परमाणुओं को कर्मरूप से ग्रहण करती है। इस प्रक्रिया का नाम आस्रव है। कषाय के कारण कर्मपरमाणुओं का आत्मा से मिल जाना अर्थात् आत्मा के साथ बँध जाना बंध कहलाता है। वैसे तो प्रत्येक प्रकार का योग अर्थात् प्रवृत्ति कर्मबंध का कारण है किन्तु जो योग क्रोधादि कषाय से युक्त होता है उससे होने वाला कर्मबंध दृढ़ होता है। कषायरहित प्रवृत्ति से होने वाला कर्मबंध निर्बल व अस्थायी होता है। यह नाममात्र का बंध है। इससे संसार नहीं बढ़ता।

योग अर्थात् प्रवृत्ति की तरतमता के अनुसार कर्मपरमाणुओं की मात्रा में तारतम्य होता है। बद्ध परमाणुओं की राशि को प्रदेश-बन्ध कहते हैं। इन परमाणुओं की विभिन्न स्वभावरूप परिणति को अर्थात् विभिन्न कार्यरूप क्षमता को प्रकृति-बन्ध कहते हैं। कर्मफल की मुक्ति की अवधि अर्थात् कर्म भोगने के काल को स्थिति-बन्ध तथा कर्मफल की तीव्रता-मन्दता को अनुभाग-बन्ध कहते हैं। कर्म बंधने के बाद जब तक वे फल देना प्रारम्भ नहीं करते तब तक के काल को अबाधाकाल कहते हैं। कर्मफल का प्रारम्भ ही कर्म का उदय है। ज्यों-ज्यों कर्मों का उदय होता जाता है त्यों-त्यों कर्म आत्मा से अलग होते जाते हैं। इसी प्रक्रिया का नाम

निर्जरा है। जब आत्मा से समस्त कर्म अलग हो जाते हैं तब उसकी जो अवस्था होती है उसे मोक्ष कहते हैं।

जैन कर्मशास्त्र में प्रकृति-बन्ध के आठ प्रकार माने गये हैं अर्थात् कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ गिनाई गई हैं। ये प्रकृतियाँ प्राणी को भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं:—१. ज्ञानावरणीय २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय। इनमें से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अन्तराय—ये चार प्रकृतियाँ घाती कहलाती हैं क्योंकि इनसे आत्मा के चार मूल गुणों–ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का घात होता है। शेष चार प्रकृतियाँ अघाती हैं क्योंकि ये किसी आत्मगुण का घात नहीं करतीं। ये शरीर से सम्बन्धित होती हैं। ज्ञानावरणीय प्रकृति आत्मा के ज्ञान अर्थात् विशेष उपयोगरूप गुण को आवृत करती है। दर्शनावरणीय प्रकृति आत्मा के दर्शन अर्थात् सामान्य उपयोगरूप गुण को आच्छादित करती है। मोहनीय प्रकृति आत्मा के स्वाभाविक सुख में बाधा पहुँचाती है। अन्तराय प्रकृति से वीर्य अर्थात् आत्मशक्ति का नाश होता है। वेदनीय कर्मप्रकृति शरीर के अनुकूल एवं प्रतिकूल संवेदन अर्थात् सुख-दुःख के अनुभव का कारण है। आयु कर्मप्रकृति के कारण नरक, तिर्यंच, देव एवं मनुष्य भव के काल का निर्धारण होता है। नाम कर्मप्रकृति के कारण नरकादि गति, एकेन्द्रियादि जाति, औदारिकादि शरीर आदि की प्राप्ति होती है। गोत्र कर्मप्रकृति प्राणियों के लौकिक उच्चत्व एवं नीचत्व का कारण है। कर्म की सत्ता मानने पर पुनर्जन्म की सत्ता

भी माननी पड़ती है। पुनर्जन्म अथवा परलोक कर्म का फल है। मृत्यु के बाद प्राणी अपने गति नाम कर्म के अनुसार पुनः मनुष्य, तिर्यञ्च, नरक अथवा देव गति में उत्पन्न होता है। आनुपूर्वी नाम कर्म उसे अपने उत्पत्तिस्थान पर पहुँचा देता है। स्थानान्तरण के समय जीव के साथ दो प्रकार के सूक्ष्म शरीर रहते हैं। तैजस और कार्मण। औदारिकादि स्थूल शरीर का निर्माण अपने उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचने के बाद प्रारम्भ होता है। इस प्रकार जैन कर्म-शास्त्र में पुनर्जन्म की सहज व्यवस्था की गई है।

कर्मबन्ध का कारण कषाय अर्थात् राग-द्वेषजन्य प्रवृत्ति है। इससे विपरीत प्रवृत्ति कर्ममुक्ति का कारण बनती है। कर्ममुक्ति के लिए दो प्रकार की क्रियाएँ आवश्यक हैं। नवीन कर्म के उपार्जन का निरोध एवं पूर्वोपार्जित कर्म का क्षय। प्रथम प्रकार की क्रिया का नाम संवर तथा द्वितीय प्रकार की क्रिया का नाम निर्जरा है। ये दोनों क्रियाएँ क्रमशः आस्रव तथा बन्ध से विपरीत हैं। इन दोनों की पूर्णता से आत्मा की जो स्थिति होती है अर्थात् आत्मा जिस अवस्था को प्राप्त होती है उसे मोक्ष कहते हैं। यही कर्म-मुक्ति है।

नवीन कर्मों के उपार्जन का निरोध अर्थात् संवर निम्न कारणों से होता है:—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र व तपस्या। सम्यक् योगनिग्रह अर्थात् मन, वचन व तन की प्रवृत्ति का सुष्ठु नियन्त्रण गुप्ति है। सम्यक् चलना, बोलना, खाना, लेना-देना आदि समिति कहलाता है। उत्तम प्रकार की क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शुद्धता आदि धर्म के अन्तर्गत हैं। अनुप्रेक्षा में अनित्यत्व,

अशरणत्व, एकत्व आदि भावनाओं का समावेश होता है। क्षुधा, पिपासा, सर्दी, गर्मी आदि कष्टों को सहन करना परीषहजय है। चारित्र सामायिक आदि भेद से पाँच प्रकार का है। तप बाह्य भी होता है व आभ्यन्तर भी। अनशन आदि बाह्य तप हैं, प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप कहलाते हैं। तप से संवर के साथ-साथ निर्जरा भी होती है। संवर व निर्जरा का पर्यवसान मोक्ष में कर्ममुक्ति होता है।

आत्मवाद :

कर्मवाद का आत्मवाद से साक्षात् सम्बन्ध है। यदि आत्मा की पृथक् सत्ता न मानी जाय तो कर्मवाद की मान्यता निरर्थक सिद्ध होती है। जैन आचारशास्त्र में कर्मवाद के आधारभूत आत्मवाद की भी प्रतिष्ठा की गई है। आत्मा का लक्षण उपयोग है। उपयोग का अर्थ है बोधरूप व्यापार। यह व्यापार चैतन्य का धर्म है। जड़ पदार्थों में उपयोग-क्रिया का अभाव होता है क्योंकि उनमें चैतन्य नहीं होता। उपयोग अर्थात् बोध दो प्रकार का है : ज्ञान और दर्शन। सुख और वीर्य भी चैतन्य का ही धर्म है। इसीलिए आत्मा को अनन्त-चतुष्टयात्मक माना गया है। अनन्त चतुष्टय ये हैं : अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य। बद्ध अर्थात् संसारी आत्मा में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से क्रमशः विशेष बोधरूप अनन्त ज्ञान, सामान्य बोधरूप अनन्त दर्शन, अलौकिक आनन्द-रूप अनन्त सुख व आध्यात्मिक शक्तिरूप अनन्त वीर्य प्रादुर्भूत

होता है। मुक्त आत्मा में ये चार अनन्त—अनन्त-चतुष्टय सर्वदा बने रहते हैं। संसारी आत्मा स्वदेहपरिमाण एवं पौद्गलिक कर्मों से युक्त होती है, साथ ही परिणमनशील, कर्ता, भोक्ता एवं सीमिति उपयोगयुक्त होती है।

अहिंसा और अपरिग्रह :

जैनाचार का प्राण अहिंसा है। अहिंसक आचार एवं विचार से ही आध्यात्मिक उत्थान होता है जो कर्ममुक्ति का कारण है। अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन एवं आचरण जैन परम्परा में उपलब्ध है उतना शायद ही किसी जैनेतर परम्परा में हो। अहिंसा का मूलाधार आत्मसाम्य है। प्रत्येक आत्मा—चाहे वह पृथ्वीसम्बन्धी हो, चाहे उसका आश्रय जल हो, चाहे वह कीट अथवा पतंग के रूप में हो, चाहे वह पशु अथवा पक्षी में हो, चाहे उसका वास मानव में हो—तात्त्विक दृष्टि से समान है। सुख-दुःख का अनुभव प्रत्येक प्राणी को होता है। जीवन-मरण की प्रतीति सबको होती है। सभी जीव जीना चाहते हैं। वास्तव में कोई भी मरने की इच्छा नहीं करता। जिस प्रकार हमें जीवन प्रिय है एवं मरण अप्रिय, सुख प्रिय है एवं दुःख अप्रिय, अनुकूलता प्रिय है एवं प्रतिकूलता अप्रिय, मृदुता प्रिय है एवं कठोरता अप्रिय, स्वतन्त्रता प्रिय है एवं परतन्त्रता अप्रिय, लाभ प्रिय है एवं हानि अप्रिय, उसी प्रकार अन्य जीवों को भी जीवन आदि प्रिय हैं एवं मरण आदि अप्रिय। इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम मन से भी किसी के वध आदि की बात न सोचें। शरीर से किसी की हत्या करना अथवा किसी को किसी

प्रकार का कष्ट पहुँचाना तो पाप है ही, मन अथवा वचन से इस प्रकार की प्रवृत्ति करना भी पाप है। मन, वचन और काया से किसी को संताप न पहुँचाना सच्ची अहिंसा है—पूर्ण अहिंसा है। वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों से लेकर मानव तक के प्रति अहिंसक आचरण की भावना जैन विचारधारा की अनुपम विशेषता है। इसे अहिंसक आचार का चरम उत्कर्ष कह सकते हैं। आचार का यह अहिंसक विकास जैन संस्कृति की अमूल्य निधि है।

अहिंसा को केन्द्रबिन्दु मानकर अमृषावाद, अस्तेय, अमैथुन एवं अपरिग्रह का विकास हुआ। आत्मिक विकास में बाधक कर्मबंध को रोकने तथा बद्ध कर्म को नष्ट करने के लिए अहिंसा तथा तदाधारित अमृषावाद आदि की अनिवार्यता स्वीकार की गई। इसमें व्यक्ति एवं समाज दोनों का हित निहित है। वैयक्तिक उत्थान एवं सामाजिक उत्कर्ष के लिए असत्य का त्याग, अनधिकृत वस्तु का अग्रहण तथा संयम का परिपालन आवश्यक है। इनके अभाव में अहिंसा का विकास नहीं हो पाता। परिणामतः आत्मविकास में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित होती है। इन सबके साथ अपरिग्रह का व्रत अत्यावश्यक है। परिग्रह के साथ आत्मविकास की घोर शत्रुता है। जहाँ परिग्रह रहता है वहाँ आत्मविकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं, परिग्रह आत्मपतन का बहुत बड़ा कारण बनता है। परिग्रह का अर्थ है पाप का संग्रह। यह आसक्ति से बढ़ता है एवं आसक्ति को बढ़ाता भी है। इसी का नाम मूर्च्छा है। ज्यों-ज्यों परिग्रह

बढ़ता है त्यों-त्यों मूर्च्छा—गृद्धि—आसक्ति बढ़ती जाती है। जितनी अधिक आसक्ति बढ़ती है उतनी ही अधिक हिंसा बढ़ती है। यही हिंसा मानव-समाज में वैषम्य उत्पन्न करती है। इसीसे आत्म-पतन भी होता है। अपरिग्रहवृत्ति अहिंसामूलक आचार के सम्यक् परिपालन के लिए अनिवार्य है।

अनेकान्तदृष्टि :

जिस प्रकार जैन विचारकों ने आचार में अहिंसा को प्रधानता दी उसी प्रकार उन्होंने विचार में अनेकान्तदृष्टि को मुख्यता दी। अनेकान्तदृष्टि का अर्थ है वस्तु का सर्वतोमुखी विचार। वस्तु में अनेक धर्म होते हैं। उनमें से किसी एक धर्म का आग्रह न रखते हुए अर्थात् एकान्तदृष्टि न रखते हुए अपेक्षाभेद से सब धर्मों के साथ समान रूप से न्याय करना अनेकान्तदृष्टि का कार्य है। अनेक धर्मात्मक वस्तु के कथन के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक है। 'स्यात्' का अर्थ है कथंचित् अर्थात् किसी एक अपेक्षा से—किसी एक धर्म की दृष्टि से। वस्तु के अनेक धर्मों अर्थात् अनन्त गुणों में से किसी एक धर्म अर्थात् गुण का विचार उस दृष्टि से ही किया जाता है। इसी प्रकार उसके दूसरे धर्म का विचार दूसरी दृष्टि से किया जाता है। इस प्रकार वस्तु के धर्म-भेद से ही दृष्टि-भेद पैदा होता है। दृष्टिकोण के इस अपेक्षावाद अथवा सापेक्षवाद का नाम ही स्याद्वाद है। चूंकि स्याद्वाद से अनेक धर्मात्मक अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन या विचार होता है अतः स्याद्वाद का अपर नाम अनेकान्तवाद

है। इस प्रकार स्याद्वाद व अनेकान्तवाद जैनदर्शनाभिमत सापेक्ष-वाद के ही दो नाम हैं।

जैनधर्म में अनेकान्तवाद के दो रूप मिलते हैं : सकलादेश और विकलादेश। सकलादेश का अर्थ है वस्तु के किसी एक धर्म से तदितर समस्त धर्मों का अभेद करके समग्र वस्तु का कथन करना। दूसरे शब्दों में वस्तु के किसी एक गुण में उसके शेष समस्त गुणों का संग्रह करना सकलादेश है। उदाहरणार्थ 'स्यादस्त्येव सर्वम्' अर्थात् 'कथंचित् सब है ही' ऐसा जब कहा जाता है तो उसका अर्थ यह होता है कि अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य जितने भी धर्म हैं, सब किसी दृष्टि से अस्तित्व से अभिन्न हैं। इसी प्रकार नास्तित्व आदि धर्मों का भी तदितर धर्मों से अभेद करके कथन किया जाता है। यह अभेद काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध उपकार आदि आठ दृष्टियों से होता है। जिस समय किसी वस्तु में अस्तित्व धर्म होता है उसी समय अन्य धर्म भी होते हैं। घट में जिस समय अस्तित्व रहता है उसी समय कृष्णत्व, स्थूलत्व आदि धर्म भी रहते हैं। अतः काल की दृष्टि से अस्तित्व व अन्य गुणों में अभेद है। यही बात शेष सात दृष्टियों के विषय में भी समझनी चाहिये। वस्तु के स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व धर्म का विचार किया जाता है एवं परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्व धर्म का। सकलादेश में एक धर्म में अशेष धर्मों का अभेद करके सकल अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु का कथन किया जाता है। विकलादेश में किसी एक धर्म की ही अपेक्षा रहती है और शेष की उपेक्षा। जिस धर्म का कथन करना होता है वही धर्म दृष्टि के सन्मुख रहता है। अन्य

धर्मों का निषेध तो नहीं होता किन्तु प्रयोजनाभाव के कारण उनके प्रति उपेक्षाभाव अवश्य रहता है। विकल अर्थात् अपूर्ण वस्तु के कथन के कारण इसे विकलादेश कहा जाता है। इस प्रकार अहिंसा और अनेकान्तवाद की मूल भित्ति पर ही जैनाचार के भव्य भवन का निर्माण हुआ है।

●

जैन दृष्टि से चारित्र-विकास

आत्मिक विकास

मोहशक्ति की प्रबलता

मिथ्या दृष्टि

अल्पकालीन सम्यक् दृष्टि

मिश्र दृष्टि

ग्रन्थिभेद व सम्यक् श्रद्धा

देशविरति

सर्वविरति

अप्रमत्त अवस्था

अपूर्वकरण

स्थूल कषाय

सूक्ष्म कषाय

उपशांत कषाय

क्षीण कषाय

सदेह मुक्ति

विदेह मुक्ति

जैन गुणस्थान, बौद्ध अवस्थाएँ व वैदिक भूमिकाएँ

योगदृष्टियाँ

ओघदृष्टि व योगदृष्टि

मित्रादृष्टि व यम
तारादृष्टि व नियम
बलादृष्टि व आसन
दीप्रादृष्टि व प्राणायाम
स्थिरादृष्टि व प्रत्याहार
कान्तादृष्टि व धारणा
प्रभादृष्टि व ध्यान
परादृष्टि व समाधि

●

: २ : जैन दृष्टि से चारित्र-विकास

आध्यात्मिक विकास को व्यावहारिक परिभाषा में चारित्र-विकास कह सकते हैं। मनुष्य के आत्मिक गुणों का प्रतिबिम्ब उसके चारित्र में पड़े बिना नहीं रहता। चारित्र की विविध दशाओं के आधार पर आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं अथवा अवस्थाओं का सहज ही अनुमान हो सकता है। आत्मा की विविध अवस्थाओं को तीन मुख्य रूपों में विभक्त किया जा सकता है: निकृष्टतम, उत्कृष्टतम व तदन्तर्वर्ती। अज्ञान अथवा मोह का प्रगाढ़तम आवरण आत्मा की निकृष्टतम अवस्था है। विशुद्धतम ज्ञान अथवा आत्यन्तिक व्यपगतमोहता आत्मा की उत्कृष्टतम अवस्था है। इन दोनों चरम अवस्थाओं के मध्य में अवस्थित दशाएँ तृतीय कोटि की अवस्थाएँ हैं। प्रथम प्रकार की अवस्था में चारित्र-शक्ति का सम्पूर्ण ह्रास तथा द्वितीय प्रकार की अवस्था में चारित्र-शक्ति का सम्पूर्ण विकास होता है। इन दोनों प्रकार की अवस्थाओं के अतिरिक्त चारित्र-विकास की जितनी भी अवस्थाएँ हैं, सबका समावेश उभय चरमान्तर्वर्ती तीसरी कोटि में होता है। आत्म-विकास अथवा चारित्र-विकास की समस्त अवस्थाओं को जैन कर्मशास्त्र में चौदह भागों में विभाजित किया गया है जो 'चौदह गुणस्थान' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये जैनाचार के चतुर्दश सोपान अर्थात् जैन चारित्र की चौदह सीढ़ियाँ हैं। साधक को इन्हीं सीढ़ियों से चढ़ना-उतरना पड़ता है।

आत्मिक विकास :

आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। जैन-दर्शन यह मानता है कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप शुद्ध ज्ञानमय व परिपूर्ण सुखमय है। इसे जैन पदावली में अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख व अनन्तवीर्य कहा जाता है। इस स्वरूप को विकृत अथवा आवृत करने का कार्य कर्मों का है। कर्मावरण की घटा ज्यों-ज्यों घनी होती जाती है त्यों-त्यों आत्मिक शक्ति का प्रकाश मंद होता जाता है। इसके विपरीत जैसे-जैसे कर्मों का आवरण हटता जाता है अथवा शिथिल होता जाता है वैसे-वैसे आत्मा की शक्ति प्रकट होती जाती है। आत्मिक शक्ति के अल्पतम आविर्भाव वाली अवस्था प्रथम गुणस्थान है। इस गुणस्थान में आत्मशक्ति का प्रकाश अत्यन्त मन्द होता है। आगे के गुणस्थानों में यह प्रकाश क्रमशः बढ़ता जाता है। अन्तिम अर्थात् चौदहवें गुणस्थान में आत्मा अपने असली रूप में पहुँच जाती है।

मोहशक्ति की प्रबलता :

आत्मशक्ति के चार प्रकार के आवरणों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—में मोहनीयरूप आवरण प्रधान है। मोह की तीव्रता-मंदता पर अन्य आवरणों की तीव्रता-मंदता निर्भर रहती है। यही कारण है कि गुणस्थानों की व्यवस्था में शास्त्रकारों ने मोहशक्ति की तीव्रता-मंदता का विशेष अवलम्बन लिया है।

मोह मुख्यतया दो रूपों में उपलब्ध होता है : दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय आत्मा को यथार्थता—सम्यक्त्व—विवेकशीलता से दूर रखता है। चारित्र मोहनीय आत्मा को विवेकयुक्त आचरण अर्थात् प्रवृत्ति नहीं करने देता। दर्शन मोहनीय के कारण व्यक्ति की भावना, विचार, दृष्टि, चिन्तन अथवा श्रद्धा सम्यक् नहीं हो पाती—सही नहीं बन पाती। सम्यक् दृष्टि की उपस्थिति में भी चारित्र मोहनीय के कारण व्यक्ति का क्रियाकलाप सम्यक् अर्थात् निर्दोष नहीं हो पाता। इस प्रकार मोह का आवरण ऐसा है जो व्यक्ति को न तो सम्यक् विचार प्राप्त करने देता है और न उसे सम्यक् आचार की ओर ही प्रवृत्त होने देता है।

मिथ्या दृष्टि :

प्रथम गुणस्थान का नाम दर्शन मोहनीय के ही आधार पर मिथ्यादृष्टि रखा गया है। यह आत्मा की अधस्तम अवस्था है। इसमें मोह की प्रबलतम स्थिति होने के कारण व्यक्ति की आध्यात्मिक स्थिति बिलकुल गिरी हुई होती है। वह मिथ्या दृष्टि अर्थात् विपरीत श्रद्धा के कारण राग-द्वेष के वशीभूत हो आध्यात्मिक किंवा तात्त्विक सुख से वंचित रहता है। इस प्रकार इस गुणस्थान का मुख्य लक्षण मिथ्या दर्शन अथवा मिथ्या श्रद्धान है।

अल्पकालीन सम्यक् दृष्टि :

द्वितीय गुणस्थान का नाम सास्वादान-सम्यग्दृष्टि अथवा सासादन-सम्यग्दृष्टि अथवा सास्वादन-सम्यग्दृष्टि है। इसका काल

अति अल्प है। मिथ्यादृष्टि व्यक्ति को मोह का प्रभाव कुछ कम होने पर जब कुछ क्षणों के लिए सम्यक्त्व अर्थात् यथार्थता की अनुभूति होती है—तत्त्वदृष्टि प्राप्त होती है—सच्ची श्रद्धा प्रकट होती है तब उसकी जो अवस्था होती है उसे सास्वादन-सम्यग्-दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में स्थित आत्मा तुरन्त मोहोदय के कारण सम्यक्त्व से गिर कर पुनः मिथ्यात्व में प्रविष्ट हो जाती है। इस अवस्था में सम्यक्त्व का अति अल्पकालीन आस्वादन होने के कारण इसे स्वास्वादन-सम्यग्दृष्टि नाम दिया गया है। इसमें आत्मा को सम्यक्त्व का केवल स्वाद चखने को मिलता है, पूरा रस प्राप्त नहीं होता।

मिश्र दृष्टि :

तृतीय गुणस्थान आत्मा की वह मिश्रित अवस्था है जिसमें न केवल सम्यग्दृष्टि होती है, न केवल मिथ्यादृष्टि। इसमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्व मिश्रित अवस्था में होते हैं जिसके कारण आत्मा में तत्त्वातत्त्व का यथार्थ विवेक करने की क्षमता नहीं रह जाती। वह तत्त्व को तत्त्व समझने के साथ ही अतत्त्व को भी तत्त्व समझने लगती है। इस प्रकार तृतीय गुणस्थान में व्यक्ति की विवेकशक्ति पूर्ण विकसित नहीं होती। यह अवस्था अधिक लंबे काल तक नहीं चलती। इसमें स्थित आत्मा शीघ्र ही अपनी तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार या तो मिथ्यात्व—अवस्था को प्राप्त हो जाती है या सम्यक्त्व-अवस्था को। इस गुणस्थान का नाम मिश्र अर्थात् सम्यक्-मिथ्यादृष्टि है।

ग्रंथिभेद व सम्यक् श्रद्धा :

मिथ्यात्व-अवस्था में रही हुई आत्मा अनुकूल संयोगों अर्थात् कारणों की विद्यमानता के कारण मोह का प्रभाव कुछ कम होने पर जब विकास की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करती है तब उसमें तीव्रतम राग-द्वेष को किंचित् मंद करने वाला बलविशेष उत्पन्न होता है। इसे जैन कर्मशास्त्र में ग्रंथिभेद कहा जाता है। ग्रंथिभेद का अर्थ है तीव्रतम राग-द्वेष अर्थात् मोहरूप गाँठ का छेदन अर्थात् शिथिलीकरण। ग्रंथिभेद का कार्य बड़ा कठिन होता है। इसके लिए आत्मा को बहुत लंबा संघर्ष करना पड़ता है। चतुर्थ गुणस्थान आत्मा की वह अवस्था है जिसमें मोह की शिथिलता के कारण सम्यक् श्रद्धा अर्थात् सदसद्विवेक तो विद्यमान रहता है किन्तु सम्यक् चारित्र का अभाव होता है। इसमें विचार-शुद्धि की विद्यमानता होते हुए भी आचार-शुद्धि का असद्भाव होता है। इस गुणस्थान का नाम अविरत-सम्यग्दृष्टि है।

देशविरति :

देशविरत-सम्यग्दृष्टि नामक पाँचवें गुणस्थान में व्यक्ति की आत्मिक शक्ति और विकसित होती है। वह पूर्ण रूप से सम्यक् चारित्र की आराधना तो नहीं कर पाता किन्तु आंशिक रूप से उसका पालन अवश्य करता है। इसी अवस्था में स्थित व्यक्ति को जैन आचारशास्त्र में उपासक अथवा श्रावक कहा गया है। श्रावक की आंशिक चारित्र-साधना अणुव्रत के नाम से प्रसिद्ध है। अणुव्रत का अर्थ है स्थूल, छोटा अथवा आंशिक व्रत अर्थात् चारित्र अथवा

नियम। अणुव्रती उपासक पूर्णरूपेण अथवा सूक्ष्मतया सम्यक् चारित्र का पालन करने में असमर्थ होता है। वह मोटे तौर पर ही चारित्र का पालन करता है। स्थूल हिंसा, झूठ आदि का त्याग करते हुए अपना व्यवहार चलाता हुआ यत्किंचित् आध्मात्मिक साधना करता है।

सर्वविरति :

छठे गुणस्थान में साधक कुछ और आगे बढ़ता है। वह देशविरति अर्थात् आंशिकविरति से सर्वविरति अर्थात् पूर्णविरति की ओर आता है। इस अवस्था में वह पूर्णतया सम्यक् चारित्र की आराधना प्रारम्भ कर देता है। उसका व्रत अणुव्रत न कहला कर महाव्रत कहलाता है। वह अणुव्रती उपासक अथवा श्रावक न कहला कर महाव्रती साधक अथवा श्रमण कहलाता है। उसका हिंसादि का त्याग स्थूल न होकर सूक्ष्म होता है, अणु न होकर महान् होता है, छोटा न होकर बड़ा होता है। यह सब होते हुए भी ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इस अवस्था में स्थित साधक का चारित्र सर्वथा विशुद्ध होता है अर्थात् उसमें किसी प्रकार का दोष आता ही नहीं। यहाँ प्रमादादि दोषों की थोड़ी-बहुत संभावना रहती है अतएव इस गुणस्थान का नाम प्रमत्त-संयत रखा गया है। साधक अपनी आध्यात्मिक परिस्थिति के अनुसार इस भूमिका से नीचे भी गिर सकता है तथा ऊपर भी चढ़ सकता है।

अप्रमत्त अवस्था :

सातवें गुणस्थान में स्थित साधक प्रमादादि दोषों से रहित

होकर आत्मसाधना में लग्न होता है। इसीलिए इसे अप्रमत्त-संयत गुणस्थान कहा जाता है। इस अवस्था में रहे हुए साधक को प्रमादजन्य वासनाएँ एकदम नहीं छोड़ देतीं। वे बीच-बीच में उसे परेशान करती रहती हैं। परिणामतः वह कभी प्रमादा-वस्था में विद्यमान रहता है तो कभी अप्रमादावस्था में। इस प्रकार साधक की नैया छठे व सातवें गुणस्थान के बीच में डोलती रहती है।

अपूर्वकरण :

यदि साधक का चारित्र-बल विशेष बलवान् होता है और वह प्रमादाप्रमाद के इस संघर्ष में विजयी बन कर विशेष स्थायी अप्रमत्त-अवस्था प्राप्त कर लेता है तो उसे तदनुगामी एक ऐसी शक्ति की सम्प्राप्ति होती है जिससे रहे-सहे मोह-बल को भी नष्ट किया जा सके। इस गुणस्थान में साधक को अपूर्व आत्मपरिमाण-रूप शुद्धि अर्थात् पहले कभी प्राप्त न हुई विशिष्ट आत्मगुणशुद्धि की प्राप्ति होती है। चूँकि इस अवस्था में रहा हुआ साधक अपूर्व आध्यात्मिक करण अर्थात् पूर्व में अप्राप्त आत्मगुणरूप साधन प्राप्त करता है अथवा उसके करण अर्थात् चारित्ररूप क्रिया की अपूर्वता होती है अतः इसका नाम अपूर्वकरण-गुणस्थान है। इसका दूसरा नाम निवृत्ति-गुणस्थान भी है क्योंकि इसमें भावों की अर्थात् अध्य-वसायों की विषयाभिमुखता—पुनः विषयों की ओर लौटने की क्रिया विद्यमान रहती है।

स्थूल कषाय :

दृष्ट, श्रुत अथवा भुक्त विषयों की आकांक्षा का अभाव होने के कारण नवें गुणस्थान में अध्यवसायों की विषयाभिमुखता नहीं होती अर्थात् भाव पुनः विषयों की ओर नहीं लौटते। इस प्रकार भावों—अध्यवसायों की अनिवृत्ति के कारण इस अवस्था का नाम अनिवृत्ति-गुणस्थान रखा गया है। इस गुणस्थान में आत्मा बादर अर्थात् स्थूल कषायों के उपशमन अथवा क्षपण में तत्पर रहती है अतः इसे अनिवृत्ति-बादर-गुणस्थान, अनिवृत्ति-बादर-सम्पराय (कषाय) गुणस्थान अथवा बादर-सम्पराय गुणस्थान भी कहा जाता है।

सूक्ष्म कषाय :

दसवाँ गुणस्थान सूक्ष्म-सम्पराय के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें सूक्ष्म लोभरूप कषाय का ही उदय रहता है। अन्य कषायों का उपशम अथवा क्षय हो चुका होता है।

उपशांत कषाय :

जो साधक क्रोधादि कषायों को नष्ट न कर उपशान्त करता हुआ ही आगे बढ़ता है—विकास करता है वह क्रमशः चारित्र-शुद्धि करता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। इस गुणस्थान में साधक के समस्त कषाय उपशान्त हो जाते हैं—दब जाते हैं। इसीलिए इसका उपशान्त-कषाय गुणस्थान अथवा उपशान्त-मोह गुणस्थान नाम सार्थक है। इस गुणस्थान में स्थित

आत्मा मोह को एक बार सर्वथा दबा तो देती है किन्तु निर्मूल नाश के अभाव में दबा हुआ मोह राख के नीचे दबी हुई अग्नि की भाँति समय आने पर पुनः अपना प्रभाव दिखाने लगता है। परिणामतः आत्मा का पतन होता है। आत्मा इस अवस्था से एक बार अवश्य नीचे गिरती है—इस भूमिका से गिर कर नीचे की किसी भूमिका पर आ टिकती है। यहाँ तक कि इस गुणस्थान से गिरने वाली आत्मा कभी-कभी सबसे नीची भूमिका अर्थात् मिथ्यात्व-गुणस्थान तक पहुँच जाती है। इस प्रकार की आत्मा पुनः अपने प्रयास द्वारा कषायों को उपशान्त अथवा नष्ट करती हुई प्रगति कर सकती है।

क्षीण कषाय :

कषायों को नष्ट कर आगे बढ़ने वाला साधक दसवें गुण-स्थान के अन्त में लोभ के अन्तिम अवशेष को विनष्ट कर मोह से सर्वथा मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था का नाम क्षीण-कषाय अथवा क्षीण-मोह गुणस्थान है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का कभी पतन नहीं होता। ग्यारहवें गुणस्थान से विपरीत स्वरूप वाले इस बारहवें गुणस्थान की यही विशे-षता है।

सदेह मुक्ति :

मोह का क्षय होने पर ज्ञानादिनिरोधक अन्य कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। परिणामतः आत्मा में विशुद्ध ज्ञानज्योति प्रकट होती है। आत्मा की इसी अवस्था का नाम सयोगि-केवली गुणस्थान

है। केवली का अर्थ है केवलज्ञान अर्थात् सर्वथा विशुद्धज्ञान से युक्त। सयोगी का अर्थ है योग अर्थात् कायिक आदि प्रवृत्तियों से युक्त। जो विशुद्ध ज्ञानी होते हुए भी शारीरिक प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं होता वह सयोगी केवली कहलाता है। यह तेरहवां गुणस्थान है।

विदेह मुक्ति :

तेरहवें गुणस्थान में स्थित सयोगी केवली जब अपनी देह से मुक्ति पाने के लिए विशुद्ध ध्यान का आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक एवं कायिक व्यापारों को सर्वथा रोक देता है तब वह आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। आत्मा की इसी अवस्था का नाम अयोगि-केवली गुणस्थान है। यह चारित्र-विकास अथवा आत्मविकास की चरम अवस्था है। इसमें आत्मा उत्कृष्टतम शुक्लध्यान द्वारा सुमेरु पर्वत की तरह निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त कर अन्त में देहत्यागपूर्वक सिद्धावस्था को प्राप्त होती है। इसी का नाम परमात्म-पद, स्वरूपसिद्धि, मुक्ति, निर्वाण, निर्गुण-ब्रह्मस्थिति, अपुनरावृत्ति-स्थान अथवा मोक्ष है। यह आत्मा की सर्वांगीण पूर्णता, पूर्ण कृतकृत्यता एवं परम पुरुषार्थ-सिद्धि है। इसमें आत्मा को अनन्त एवं अव्याबाध अलौकिक सुख की प्राप्ति होती है।

जैन गुणस्थान, बौद्ध अवस्थाएँ व वैदिक भूमिकाएँ :

जैन दर्शन की तरह अन्य भारतीय दर्शनों ने भी आत्मा के क्रमिक विकास का विचार किया है। यह विचार वैदिक परम्परा

में भूमिकाओं तथा बौद्ध विचारधारा में अवस्थाओं के नाम से प्रसिद्ध है। वैदिक परम्परा के योगवासिष्ठ, पातंजल-योगसूत्र आदि ग्रन्थों में आत्मविकास की भूमिकाओं का पर्याप्त विवेचन है। बौद्ध दर्शन में भी आत्मा की संसार, मोक्ष आदि अवस्थाएँ मानी गई हैं अतः उसमें आत्मविकास का वर्णन स्वाभाविक है। यह वर्णन मज्झिमनिकाय आदि बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध है। योगवासिष्ठवर्णित चौदह भूमिकाएँ जैनशास्त्रोक्त चौदह गुणस्थानों से कुछ-कुछ मिलती हुई हैं। इन चौदह भूमिकाओं में से सात अज्ञान की तथा सात ज्ञान की हैं। जैन परिभाषा में इन्हें क्रमशः मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व की अवस्थाएँ कह सकते हैं। मज्झिम-निकाय में स्वरूपोन्मुख होने की स्थिति से लेकर स्वरूप की परा-काष्ठा प्राप्त करने तक की स्थिति का पाँच अवस्थाओं में विभा-जन किया गया है जिनके नाम ये हैं : १. धर्मानुसारी, २. सोता-पन्न, ३. सकदागामी, ४. अनागामी और ५. अरहा। जैन शास्त्रोक्त कर्मप्रकृतियों की भाँति मज्झिमनिकाय में दस संयो-जनाओं का वर्णन है। इन संयोजनाओं का क्रमशः क्षय होने पर सोतापन्न आदि अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। सोतापन्न आदि चार अवस्थाओं का विकास-क्रम जैनग्रन्थोक्त चौथे से लेकर चौदहवें तक के गुणस्थानों से मिलता-जुलता है। इन चार अवस्थाओं को चतुर्थ आदि गुणस्थानों का संक्षिप्त रूप कह सकते हैं।

योगदृष्टियाँ :

जिस प्रकार पातंजल-योगसूत्र में आत्मविकास अर्थात् चारित्र-विकास की चरम अवस्थारूप मोक्ष की सिद्धि के लिए योगरूप

साधन के यम, नियमादि आठ अंग बतलाये गये हैं उसी प्रकार आचार्य हरिभद्रकृत योगदृष्टिसमुच्चय में जैनाभिमत आठ योग-दृष्टियाँ बतलाई गई हैं। इन दृष्टियों के नाम इस प्रकार हैं : १. मित्रा, २. तारा, ३. बला, ४. दीप्रा, ५. स्थिरा, ६. कान्ता, ७. प्रभा और ८. परा। दृष्टि का अर्थ बताते हुए योगदृष्टि-समुच्चय में कहा गया है कि सत्श्रद्धाश्रुत बोध का नाम दृष्टि—यथार्थ दृष्टि है। इसके द्वारा विचारयुक्त श्रद्धा रखने, निर्णय करने एवं सत्य पदार्थ का ज्ञान करने की शक्ति उत्पन्न होती है। ज्यों-ज्यों दृष्टि की उच्चता प्राप्त होती जाती है त्यों-त्यों चारित्र का विकास होता जाता है। आचार्य हरिभद्र ने इस विकास-क्रम को उक्त आठ दृष्टियों के माध्यम से स्पष्ट किया है।

ओघदृष्टि व योगदृष्टि :

सामान्यतया दृष्टि दो प्रकार की होती है : ओघदृष्टि और योगदृष्टि। ओघदृष्टि का अर्थ है सामान्य अथवा साधारण दृष्टि। जनसमूह की सामान्य दृष्टि जिसमें विचार अथवा विवेक का अभाव होता है, ओघदृष्टि कहलाती है। इसमें गतानुगतिकता का सद्भाव एवं चिन्तनशीलता का अभाव होता है। योगदृष्टि का स्वरूप इससे विपरीत है। इसमें स्थित व्यक्ति में विवेकशीलता विद्यमान रहती है। आचार्य हरिभद्रोक्त आठ दृष्टियों का समा-वेश योगदृष्टि में होता है। दूसरे शब्दों में मित्रादि आठ दृष्टियाँ योगदृष्टियाँ कहलाती हैं। इन्हीं दृष्टियों के समूह का नाम योग-दृष्टिसमुच्चय है। इन आठ दृष्टियों में से प्रथम चार दृष्टियाँ

मिथ्यादृष्टि जीवों को भी हो सकती हैं। यही कारण है कि इनसे पतन की भी संभावना रहती है। अन्तिम चार दृष्टियाँ नियमतः सम्यग्दृष्टि को ही होती हैं अतः ये अप्रतिपाती हैं—इनसे पतन कभी नहीं होता। प्रथम चार दृष्टियाँ अस्थिर हैं जबकि अन्तिम चार स्थिर हैं।

मित्रादृष्टि व यम :

मित्रादृष्टि योग के प्रथम अंग यम के समकक्ष है। इसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, मैथुनविरमण एवं अपरिग्रह रूप पांच यम सामान्यतया विद्यमान होते हैं। इस दृष्टि में प्राप्त बोध तृण की अग्नि के समान होता है। जैसे तृणपुंज शीघ्रता से जलकर शीघ्र ही शान्त हो जाता है वैसे ही मित्रादृष्टि में बोध शीघ्र उत्पन्न होकर शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। यह बोध अति सामान्य प्रकार का होता है। इसमें स्थायित्व ज़रा भी नहीं होता। इस दृष्टि का लक्षण 'अखेद' है अर्थात् इस दृष्टि में स्थित व्यक्ति को शुभ कार्य करते ज़रा भी खेद नहीं होता—अच्छा काम करते तनिक भी दुःख नहीं होता। इतना ही नहीं, वह अशुभ कार्य करने वाले के प्रति 'अद्वेष' वृत्ति रखता है अर्थात् बुरा काम करने वाले पर क्रोध न लाते हुए अथवा उससे घृणा न करते हुए उसे दया का पात्र समझता है। इस अद्वेषवृत्ति के कारण उसमें सहिष्णुता उत्पन्न होती है।

तारादृष्टि व नियम :

तारादृष्टि योग के द्वितीय अंग नियम के समकक्ष है। इसमें

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान की विद्यमानता होती है। शारीरिक व मानसिक शुद्धि का नाम शौच है। जीवन के लिए अनिवार्य पदार्थों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की अस्पृहा को सन्तोष कहते हैं। क्षुधा, पिपासा आदि परीषह तथा अन्य प्रकार के कष्ट सहन करना तप है। ग्रन्थादि के अध्ययन का अर्थ है स्वाध्याय। परमात्मतत्त्व का चिन्तन ईश्वरप्रणिधान कहलाता है। इस दृष्टि में बोध कंडे की अग्नि के समान होता है जो कुछ समय तक टिकता है। जिस प्रकार मित्रादृष्टि में अखेद एवं अद्वेष गुण उत्पन्न होता है उसी प्रकार तारादृष्टि में 'जिज्ञासा' गुण पैदा होता है। इसके कारण व्यक्ति के मन में तत्त्वज्ञान की अभिलाषा उत्पन्न होती है। इस दृष्टि में शुभ कार्य करने की प्रवृत्ति विशेष बलवती एवं वेगवती होती है। इसकी सिद्धि के लिए व्यक्ति अनेक प्रकार के नियम अंगीकार करता है। उसे योगकथा से बहुत प्रेम होता है। अन्य प्रकार की कथाओं में आनन्द नहीं आता। योगियों—साधकों के प्रति उसके हृदय में मान बढ़ जाता है।

बलादृष्टि व आसन :

बलादृष्टि में साध्य का दर्शन विशेष दृढ़ एवं स्पष्ट होता है। आत्मा 'ग्रन्थिभेद' के समीप पहुँच जाती है। उसे एक ऐसे बल का अनुभव होता है जो पहले कभी न हुआ हो। इस दृष्टि में स्थित व्यक्ति की ऐसी मनोवृत्ति हो जाती है कि उसकी पौद्-गलिक पदार्थविषयक तृष्णा शान्त हो जाती है। परिणामतः

उसमें ऐसी स्वभावसौम्यता उत्पन्न हो जाती है कि स्थिरता के अभ्यास के रूप में उसे आसन नामक तृतीय योगांग की प्राप्ति होती है। प्रथम दो दृष्टियों में जैसे अद्वेष व जिज्ञासा गुण प्राप्त होते हैं वैसे ही इस दृष्टि में शुश्रूषा अर्थात् श्रवणेच्छा गुण की प्राप्ति होती है। इससे व्यक्ति को तत्त्वश्रवण की प्रबल इच्छा होती है। उसे तत्त्वश्रवण में अति आनन्द का अनुभव होता है। इस दृष्टि में प्राप्त बोध काष्ठ की अग्नि के सदृश होता है। यह तारादृष्टि में प्राप्त बोध की अपेक्षा अधिक स्थिर होता है। इस दृष्टि की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें सत्प्रवृत्ति करते हुए प्रायः विघ्न उपस्थित नहीं होते अतः आरम्भ किये हुए शुभ कार्य ठीक तरह पूरे हो जाते हैं। कदाचित् विघ्न आ जाय तो भी उसके निवारण की उपायकुशलता प्राप्त होने के कारण वह बाधक सिद्ध नहीं हो पाता।

दीप्रादृष्टि व प्राणायाम :

दीप्रा नामक चतुर्थ दृष्टि में योग के चतुर्थ अंग प्राणायाम–श्वासनियन्त्रण की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार प्राणायाम की रेचक, पूरक व कुम्भकरूप तीन अवस्थाएँ हैं उसी प्रकार इस दृष्टि की भी तीन अवस्थाएँ हैं। यहाँ बाह्यभाव-नियन्त्रणरूप रेचक, आन्तरिकभाव-नियन्त्रणरूप पूरक एवं स्थिरतारूप कुंभक होता है। यह आध्यात्मिक प्राणायाम है। इस दृष्टि में प्राप्त होने-वाला बोध दीपप्रभा–दीपक की ज्योति के समान होता है। यहाँ श्रवण गुण की प्राप्ति होती है। बलादृष्टि में प्राप्त शुश्रूषा दीप्रा-

दृष्टि में श्रवण के रूप में परिणत होती है। इससे बोध अधिक स्पष्ट होता है। इस दृष्टि में स्थित व्यक्ति को धर्म अर्थात् सदाचरण पर इतनी अधिक श्रद्धा होती है कि वह उसके लिए प्राणार्पण करने को भी तैयार रहता है। उसको दृष्टि में शरीर का उतना मूल्य नहीं होता जितना कि धर्म का—चारित्र का। इतना होते हुए भी इस दृष्टि में सूक्ष्म बोध का तो अभाव ही रहता है। यही कारण है कि चतुर्थ दृष्टि तक पहुँच कर भी प्राणी कभी-कभी पतित हो जाता है—पुनः नीचे गिर पड़ता है।

स्थिरादृष्टि व प्रत्याहार :

उपर्युक्त चार दृष्टियों तक कम-ज्यादा मात्रा में अभिनिवेश-आसक्ति की विद्यमानता रहती है। व्यक्ति को सत्यासत्य की सुनिश्चित प्रतीति नहीं होती। सूक्ष्म बोध के अभाव में वह तत्त्वातत्त्व की समुचित परीक्षा नहीं कर पाता। या तो अपनी मान्यता को सत्य मानकर चलता है या पूरी परीक्षा किये बिना जिस किसी का अनुसरण करता है। प्राणी की इस प्रकार की स्थिति को 'अवेद्यसंवेद्य पद' कहा जाता है। अभिनिवेश का अभाव होने पर सूक्ष्म बोध के कारण व्यक्ति को सत्यासत्य की सुनिश्चित प्रतीति होती है—तत्त्वातत्त्व का निश्चित ज्ञान होता है। इस स्थिति का नाम है 'वेद्यसंवेद्य पद'। (क्षायिक) सम्यक्त्व की प्राप्ति के कारण ही इस पद की प्राप्ति होती है। प्रथम चार दृष्टियों में सम्यक्त्व की भजना है अर्थात् इनमें सम्यक्त्व होता भी है और नहीं भी। स्थिरा नामक पाँचवीं दृष्टि में निश्चित रूप से

सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व ग्रन्थिभेद के कारण प्राप्त होता है। इसके बाद साधक का पतन नहीं होता। वह निश्चित रूप से आगे बढ़ता जाता है—आध्यात्मिक उन्नति करता जाता है। उसके चारित्र में किसी प्रकार का दोष नहीं आता—किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आती। स्थिरादृष्टि में बोध रत्नप्रभा के समान होता है। उसमें पर्याप्त स्थिरता आ जाती है जिसके कारण आत्मा को साध्य का साक्षात् अनुभव होने लगता है। इस दृष्टि में विषय-विकार-त्यागरूप प्रत्याहार नामक पंचम योगांग की प्राप्ति होती है जिससे आत्मा इन्द्रियविषयों की ओर आकृष्ट न होती हुई स्वरूप की ओर झुकती है। जिस प्रकार पूर्वोक्त चार दृष्टियों में क्रमशः अद्वेष ,जिज्ञासा, शुश्रूषा एवं श्रवण गुण की प्राप्ति होती है उसी प्रकार इस पाँचवीं दृष्टि में सूक्ष्मबोध गुण उत्पन्न होता है। इस दृष्टि में स्थित व्यक्ति की चर्या सामान्यतया ऐसी हो जाती है कि उसे अतिचाररूप दोष बहुत कम लगते हैं—नहीं के बराबर लगते हैं। वह अनेक यौगिक गुण प्राप्त करता है, जैसे अचंचलता अथवा स्थिरता, नीरोगता, अकठोरता, मलादिविषयक अल्पता, स्वरसुन्दरता, जनप्रियता आदि।

कान्तादृष्टि व धारणा :

कान्ता नामक छठी दृष्टि में पदार्पण करने के पूर्व साधक को यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त हो चुकी होती हैं। कान्तादृष्टि में उसे धारणा नामक योगांग की प्राप्ति होती है। धारणा का अर्थ है किसी पदार्थ के एक भाग पर चित्त की स्थिरता। यह दृष्टि

प्राप्त होने पर चित्त की चंचलता और कम हो जाती है जिससे मन को और अधिक स्थिर किया जा सकता है। यहाँ मीमांसा गुण की प्राप्ति होती है जिससे व्यक्ति की सदसत्परीक्षणशक्ति विशेष बढ़ जाती है। उसका बोध तारे की प्रभा के समान होता है। जैसे तारा एकसा प्रकाश देता है वैसे ही इस दृष्टिवाले प्राणी का बोध एकसा स्पष्ट एवं स्थिर होता है। उसका चारित्र स्वभावतः निरतिचार होता है, अनुष्ठान शुद्ध होता है, आचरण प्रमादरहित होता है, आशय उदार एवं गंभीर होता है। भव-उद्वेग के पूर्ण विकास के कारण उसका संसारसम्बन्धी राग नष्टप्रायः हो जाता है—माया व ममता से उसे अन्तःकरण-पूर्वक विरक्ति हो जाती है। उसका मन श्रुतधर्म में बहुत आसक्त रहता है। उसकी कर्मप्रचुरता धीरे-धीरे कम होती जाती है।

प्रभादृष्टि व ध्यान :

प्रभा नामक सातवीं दृष्टि में ध्यान नामक योगांग की प्राप्ति होती है। किसी एक पदार्थ पर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त होने वाली चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। यह ध्येय वस्तु में होने वाली एकाकार चित्तवृत्ति के प्रवाह के रूप में प्रस्फुटित होता है। धारणा में चित्तवृत्ति की स्थिरता एकदेशीय तथा अल्पकालीन होती है जबकि ध्यान में वह प्रवाहरूप तथा दीर्घकालीन होती है। प्रभादृष्टि में बोध सूर्य की प्रभा के समान होता है जो लंबे समय तक अतिस्पष्ट रहता है। यहाँ प्रतिपत्ति गुण की प्राप्ति होती है अर्थात् कान्तादृष्टि में विचारित—परीक्षित—मीमांसित तत्त्व का ग्रहण होता है—अमल प्रारंभ होता है। सर्व व्याधियों के

उच्छेद के कारण शमसुख—अपूर्व शान्ति की अनुभूति होती है। कर्ममल क्षीणप्रायः हो जाता है। इस अवस्था को पातंजल-योग-दर्शन की परिभाषा में प्रशान्तवाहिता कह सकते हैं।

पराद्दष्टि व समाधि :

आठवीं परादृष्टि योग के अन्तिम अंग समाधि के समकक्ष है। धारणा से प्रारम्भ होने वाली एकस्थचित्तता ध्यानावस्था को पार करती हुई समाधि में पर्यवसित होती है। धारणा में चित्तवृत्ति की स्थिरता एकदेशीय अर्थात् अप्रवाहरूप होती है। ध्यान में चित्तवृत्ति का एकाकार प्रवाह चलता है किन्तु वह सतत धारारूप नहीं होता अपितु थोड़े समय बाद—अन्त-र्मुहूर्त में उसका विच्छेद हो जाता है। समाधि में चित्तवृत्ति का प्रवाह अविछिन्न रूप से बहता है। इसमें एकाग्रता स्थायी होती है क्योंकि यहाँ ध्यान में विक्षेप करने वाले कारणों का अभाव होता है। परादृष्टि में बोध चन्द्र के उद्योत के समान शान्त एवं स्थिर होता है। यहाँ प्रवृत्ति गुण की प्राप्ति होती है अर्थात् प्रभादृष्टि में प्राप्त प्रतिपत्ति गुण इस दृष्टि में पूर्णता को प्राप्त होता है। परिणामतः आत्मा की स्वगुण में अर्थात् स्वरूप में सम्पूर्णतया प्रवृत्ति होती है। इस अवस्था में किसी भी प्रकार के दोष की सम्भावना नहीं रहती। अन्त में आत्मा को अखंड आनन्दरूप अनन्त सुख की प्राप्ति होती है जिसे भारतीय दार्श-निकों ने मोक्ष अथवा निर्वाण कहा है तथा जो सम्यक्विचार एवं सदाचार का ध्येय माना गया है और जिसमें सम्यग्दृष्टि व सच्चारित्र का पर्यवसान होता है।

●

जैन आचार-ग्रन्थ

आचारांग
उपासकदशांग
दशवैकालिक
आवश्यक
दशाश्रुतस्कन्ध
बृहत्कल्प
व्यवहार
निशीथ
महानिशीथ
जीतकल्प
मूलाचार
मूलाराधना
रत्नकरण्डक-श्रावकाचार
वसुनन्दि-श्रावकाचार
सागार-धर्मामृत
अनगार-धर्मामृत

जैन आचार का प्रारंभ देशविरति अर्थात् आंशिक वैराग्य से होता है। इस अवस्था को पंचम गुणस्थान कहते हैं। इसमें व्यक्ति अणुव्रतों—छोटे व्रतों का पालन करता है। इस भूमिका पर स्थित व्यक्ति को उपासक अथवा श्रावक कहा जाता है। इसके बाद की अवस्था सर्वविरति के रूप में होती है। इसमें व्यक्ति पूर्णतया विरक्त हो जाता है। इस अवस्था को षष्ठ गुणस्थान कहते हैं। इसमें स्थित श्रमण अथवा निर्ग्रंन्थ महाव्रतों—बड़े व्रतों का पालन करता है। इस भूमिका को आचार्य हरिभद्रप्रतिपादित मित्रा-योगदृष्टि एवं पतंजलिनिर्दिष्ट यम-योगांग के समकक्ष माना जा सकता है। इसके बाद चारित्र का धीरे-धीरे विकास होता जाता है जिसके कारण कर्मग्रन्थोक्त अप्रमत्त आदि अवस्थाओं की प्राप्ति होती है। जैन आचार्यों ने श्रमणाचार एवं श्रावकाचार दोनों से सम्बन्धित ग्रन्थों का निर्माण किया है। इन ग्रन्थों में श्वेताम्बर परम्पराभिमत आचारांग, उपासकदशांग, दशवैकालिक, आवश्यक, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ व जीतकल्प तथा दिगम्बर परम्पराभिमत मूलाचार, मूलाराधना, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, वसुनंदिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत व अनगारधर्मामृत मुख्य हैं।

आचारांग :

समग्र जैन आचार की आधारशिला प्रथम अंगसूत्र आचारांग

है। यह दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध गणधरकृत तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध स्थविरकृत है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में पहले नौ अध्ययन थे किन्तु महापरिज्ञा नामक एक अध्ययन का लोप हो जाने के कारण अब इसमें आठ अध्ययन ही रह गये हैं। इन अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं : १. शस्त्रपरिज्ञा, २. लोकविजय, ३. शीतोष्णीय, ४. सम्यक्त्व, ५. लोकसार अथवा आवंती, ६. धूत, ७. विमोक्ष और ८. उपधानश्रुत। ये अध्ययन विभिन्न उद्देशों में विभक्त हैं। प्रथम अध्ययन के सात उद्देश हैं। द्वितीय आदि अध्ययनों के क्रमशः छः, चार, चार, छः, पाँच, आठ और चार उद्देश हैं। इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कन्ध में सब मिला कर चौवालीस उद्देश हैं। ये उद्देश छोटे-छोटे सूत्रों में विभक्त हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों का संयुक्त नाम 'ब्रह्मचर्य' है। इसीलिए आचार्य शीलांक ने अपनी टीका में इस श्रुतस्कन्ध को ब्रह्मचर्य-श्रुतस्कन्ध कहा है। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ संयम है जो अहिंसा एवं समभाव की साधना का नामान्तर है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध को निर्युक्तिकार ने 'आचाराग्र' नाम दिया है। यह वस्तुतः प्रथम श्रुतस्कन्ध का परिशिष्ट है। इसीलिए इसे आचारचूडा अथवा आचारचूलिका भी कहा जाता है। विषय के विशेष स्पष्टीकरण की दृष्टि से इस प्रकार की चूलिकाएँ ग्रन्थों में जोड़ी जाती हैं। आचाराग्र अथवा आचारचूलिकारूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध पाँच चूलाओं में विभक्त है। प्रथम चूला में पिण्डैषणादि सात तथा द्वितीय चूला में स्थान आदि सात अध्ययन हैं। तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम चूलाएँ एक-एक अध्ययन के रूप में ही हैं। प्रथम चूला के प्रथम अध्ययन के ग्यारह, द्वितीय तथा

तृतीय अध्ययनों के तीन-तीन और अन्तिम चार अध्ययनों के दो-दो उद्देश हैं। द्वितीयादि चूलाओं के अध्ययन एक-एक उद्देश के रूप में ही हैं।

उपलब्ध समग्र जैन साहित्य में आचारांग का प्रथम श्रुत-स्कन्ध प्राचीनतम है, यह इसकी प्राकृत भाषा, तन्निष्ठ शैली व तद्गत भावों से सिद्ध है। इसके प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा के सात उद्देशों में हिंसा के साधनों अर्थात् शस्त्रों का परिज्ञान कराते हुए उनके परित्याग का उपदेश दिया गया है। जीवविषयक संयम इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है। प्रथम उद्देश में जीव का सामान्य निरूपण करके द्वितीयादि उद्देशों में षट् जीवनिकायों का क्रमशः वर्णन किया गया है। प्रत्येक उद्देश में यह प्रतिपादित किया गया है कि जीववध से कर्मों का बन्ध होता है अतएव विरति ही कर्तव्य है। लोकविजय नामक द्वितीय अध्ययन छः उद्देशों में विभक्त है। इसका प्रतिपाद्य विषय लोक का बंधन व उसका घात है। इसके छः उद्देशों का अर्थाधिकार अर्थात् प्रतिपाद्य विषय क्रमशः इस प्रकार है : १. स्वजनों में आसक्ति का परित्याग, २. संयम में शिथिलता का परित्याग, ३. मान और अर्थ में सारदृष्टि का परित्याग, ४. भोग में आसक्ति का परित्याग, ५. लोक के आश्रय से संयम-निर्वाह, ६. लोक में ममत्व का परित्याग। 'लोकविजय' का शब्दार्थ है कषायरूप भावलोक का औपशमिकादि भावों द्वारा निरसन। शीतोष्णीय नामक तृतीय अध्ययन चार उद्देशों में विभक्त है। सत्कार आदि अनुकूल परीषह शीत तथा अपमान आदि प्रतिकूल परीषह उष्ण कहे जाते हैं। प्रस्तुत

अध्ययन में आन्तरिक व बाह्य शीत-उष्ण की चर्चा है। इसमें यह बताया गया है कि श्रमण को शीतोष्ण स्पर्श, सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल परीषह, कषाय, कामवासना, शोक-संताप आदि को सहन करना चाहिए तथा सदैव तप-संयम-उपशम के लिए उद्यत रहना चाहिए। प्रथम उद्देश में असंयमी का, द्वितीय उद्देश में असंयमी के दुःख का, तृतीय उद्देश में केवल कष्ट उठानेवाले श्रमण का एवं चतुर्थ उद्देश में कषाय के वमन का वर्णन है। सम्यक्त्व नामक चतुर्थ अध्ययन भी चार उद्देशों में विभक्त है। प्रथम उद्देश में सम्यक्-वाद अर्थात् यथार्थवाद का विचार किया गया है। द्वितीय उद्‌देश में धर्मप्रावादुकों की परीक्षा का, तृतीय उद्‌देश में अनवद्य तप के आचरण का तथा चतुर्थ उद्‌देश में नियमन अर्थात् संयम का वर्णन है। इन सबका तात्पर्य यह है कि संयमी को सदैव सम्यक् ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र में तत्पर रहना चाहिए। पंचम अध्ययन का नाम लोकसार है। यह छः उद्‌देशों में विभक्त है। इसका दूसरा नाम आवंती भी है क्योंकि इसके प्रथम तीन उद्‌देशों का प्रारम्भ इसी शब्द से होता है। लोक में धर्म ही सारभूत तत्त्व है। धर्म का सार ज्ञान, ज्ञान का सार संयम व संयम का सार निर्वाण है। प्रस्तुत अध्ययन में इसी का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम उद्देश में हिंसक, समारंभकर्ता तथा एकलविहारी को अमुनि कहा गया है। द्वितीय उद्‌देश में विरत को मुनि तथा अविरत को परिग्रही कहा गया है। तृतीय उद्‌देश में मुनि को अपरिग्रही एवं कामभोगों से विरक्त बताया गया है। चतुर्थ उद्‌देश में अगीतार्थ के मार्ग में आने वाले विघ्नों का निरूपण है। पंचम उद्‌देश में मुनि को ह्रद अर्थात्

जलाशय की उपमा दी गई है। छठे उद्देश में उन्मार्ग एवं रागद्वेष के परित्याग का उपदेश दिया गया है। षष्ठ अध्ययन का नाम धूत है। इसमें बाह्य व आन्तरिक पदार्थों के परित्याग तथा आत्म-तत्त्व की परिशुद्धि का उपदेश दिया गया है अतः इसका धूत (फटक कर धोया हुआ—शुद्ध किया हुआ) नाम सार्थक है। इसके प्रथम उद्देश में स्वजन, द्वितीय में कर्म, तृतीय में उपकरण और शरीर, चतुर्थ में गौरव तथा पंचम में उपसर्ग और सन्मान के परित्याग का उपदेश है। महापरिज्ञा नामक सप्तम अध्ययन विच्छिन्न है—लुप्त है। इसकी निर्युक्ति भी उपलब्ध नहीं है। निर्युक्तिकार ने प्रारम्भ में इसके विषय का मोहजन्य परीषह व उपसर्ग के रूप में निर्देश किया है : मोहसमुत्था परीसहुवसग्गा। इससे प्रतीत होता है कि इस अध्ययन में नाना प्रकार के मोहजन्य परीषहों और उपसर्गों को सहन करने के विषय में प्रकाश डाला गया होगा। विमोक्ष नामक अष्टम अध्ययन में आठ उद्देश हैं। प्रथम उद्देश में असमनोज्ञ अर्थात् असमान आचार वाले के परित्याग का उपदेश है। द्वितीय उद्देश में अकल्प्य अर्थात् अग्राह्य वस्तु के ग्रहण का प्रतिषेध किया गया है। अंगचेष्टा से सम्बन्धित कथन या शंका का निवारण तृतीय उद्देश का विषय है। आगे के उद्देशों में सामान्यतः भिक्षु के वस्त्राचार का वर्णन है किन्तु विशेषतः चतुर्थ में वैखानस एवं गार्द्ध-पृष्ठ मरण, पंचम में रोग एवं भक्तपरिज्ञा, षष्ठ में एकत्वभावना एवं इंगिनीमरण, सप्तम में प्रतिमा एवं पादपोपगमन मरण तथा अष्टम में वयःप्राप्त श्रमणों के भक्तपरिज्ञा, इंगिनीमरण एवं पादपोपगमन मरण की चर्चा है। नवम अध्ययन का नाम उपधानश्रुत है। इसमें

वर्तमान जैनाचार के प्ररूपक अन्तिम तीर्थंकर श्रमणभगवान् महावीर की तपस्या का वर्णन है। प्रस्तुत अध्ययन में भगवान् महावीर के साधकजीवन अर्थात् श्रमणजीवन की सर्वाधिक प्राचीन एवं विश्वसनीय सामग्री उपलब्ध है। इसके चार उद्देशों में से प्रथम में श्रमणभगवान् की चर्या अर्थात् विहार, द्वितीय में शय्या अर्थात् वसति, तृतीय में परीषह अर्थात् उपसर्ग तथा चतुर्थ में आतंक व तद्विषयक चिकित्सा का वर्णन है। इन सब क्रियाओं में उपधान अर्थात् तप प्रधान रूप से रहता है अतः इस अध्ययन का उपधानश्रुत नाम सार्थक है। इसमें महावीर के लिए 'श्रमणभगवान्', 'ज्ञातपुत्र', 'मेधावी', 'ब्राह्मण', 'भिक्षु', 'अबहुवादी' आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है। प्रत्येक उद्देश के अन्त में उन्हें मतिमान् ब्राह्मण एवं भगवान् कहा गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पाँच चूलाओं में से अन्तिम चूला आचार-प्रकल्प अथवा निशीथ को आचारांग से किसी समय पृथक् कर दिया गया जिससे आचारांग में अब केवल चार चूलाएँ ही रह गई हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में आने वाले विविध विषयों को एकत्र करके शिष्यहितार्थ चूलाओं में संगृहीत कर स्पष्ट किया गया। इनमें कुछ अनुक्त विषयों का भी समावेश कर दिया गया। इस प्रकार इन चूलाओं के पीछे दो प्रयोजन थे : उक्त विषयों का स्पष्टीकरण तथा अनुक्त विषयों का ग्रहण। प्रथम चूला में सात अध्ययन हैं : १. पिण्डैषणा, २. शय्यैषणा, ३. ईर्या, ४. भाषाजात, ५. वस्त्रैषणा, ६. पात्रैषणा, ७. अवग्रहप्रतिमा। द्वितीय चूला में भी सात अध्ययन हैं: १. स्थान, २. निषीधिका, ३. उच्चारप्रस्रवण;

४. शब्द, ५. रूप, ६. परक्रिया, ७. अन्योन्यक्रिया। तृतीय चूला भावना-अध्ययन के रूप में है। चतुर्थ चूला विमुक्ति-अध्ययनरूप है। प्रथम चूला का प्रथम अध्ययन ग्यारह उद्देशों में विभक्त है। इनमें भिक्षु-भिक्षुणी की पिण्डैषणा अर्थात् आहार की गवेषणा के विषय में विधि-निषेधों का निरूपण है। शय्यैषणा नामक द्वितीय अध्ययन में श्रमण-श्रमणी के रहने के स्थान अर्थात् वसति की गवेषणा के विषय में प्रकाश डाला गया है। इस अध्ययन में तीन उद्देश हैं। ईर्या नामक तृतीय अध्ययन में साधु-साध्वी की ईर्या अर्थात् गमनागमनरूप क्रिया की शुद्धि-अशुद्धि का विचार किया गया है। इसमें तीन उद्देश हैं। भाषाजात नामक चतुर्थ अध्ययन के दो उद्देश हैं जिनमें भिक्षु-भिक्षुणी की वाणी का विचार किया गया है। प्रथम उद्देश में सोलह प्रकार की वचनविभक्ति तथा द्वितीय में कषायजनक वचनप्रयोग की व्याख्या है। पंचम अध्ययन वस्त्रैषणा के भी दो उद्देश हैं। इनमें से प्रथम में वस्त्रग्रहणसम्बन्धी तथा द्वितीय में वस्त्रधारणसम्बन्धी चर्चा है। षष्ठ अध्ययन पात्रैषणा के भी दो उद्देश हैं जिनमें अलाबु, काष्ठ व मिट्टी के पात्र के गवेषण एवं धारण की चर्चा है। अवग्रहप्रतिमा नामक सप्तम अध्ययन भी दो उद्देशों में विभक्त है जिनमें बिना अनुमति के किसी भी वस्तु को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। द्वितीय चूला के प्रथम अध्ययन स्थान में शरीर की हलन-चलनरूप क्रिया का नियमन करने वाली चार प्रकार की प्रतिमाएँ अर्थात् प्रतिज्ञाएँ वर्णित हैं जिनमें संयमी की स्थिति अपेक्षित है। द्वितीय अध्ययन निषीधिका में स्वाध्यायभूमि के सम्बन्ध में चर्चा है।

उच्चार-प्रस्रवण नामक तृतीय अध्ययन में मल-मूत्र के त्याग की अहिंसक विधि बतलाई गई है। शब्द नामक चतुर्थ अध्ययन में विविध वाद्यों, गीतों, नृत्यों, उत्सवों आदि के शब्दों को सुनने की लालसा से यत्र-तत्र जाने का निषेध किया गया है। रूप नामक पंचम अध्ययन में विविध प्रकार के रूपों को देखने की लालसा का प्रतिषेध किया गया है। षष्ठ अध्ययन परक्रिया में अन्य द्वारा शारीरिक संस्कार, चिकित्सा आदि करवाने का निषेध किया गया है। सप्तम अध्ययन अन्योन्यक्रिया में परस्पर चिकित्सा आदि करने-करवाने का प्रतिषेध किया गया है। भावना नामक तृतीय चूला में पांच महाव्रतों की भावनाओं के साथ ही तदुपदेशक भगवान् महावीर का जीवन भी दिया गया है। विमुक्ति नामक चतुर्थ चूला में मोक्ष की चर्चा है। मुनि को आंशिक एवं सिद्ध को पूर्ण मोक्ष होता है। समुद्र के समान यह संसार दुस्तर है। जो मुनि इसे पार कर लेते हैं वे अन्तकृत—विमुक्त कहे जाते हैं। इस प्रकार आचारांग सूत्र निःसंदेह भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित आचारशास्त्र का उत्कृष्टतम ग्रंथ है। इसमें अनगारधर्म अर्थात् श्रमणाचार के समस्त महत्त्वपूर्ण पक्षों का सारगर्भित निरूपण है।

उपासकदशांग :

श्रावकाचार अर्थात् सागारधर्म का प्रतिपादक उपासकदशांग सातवां अंगसूत्र है। इसमें भगवान् महावीर के दस प्रधान उपासकों—श्रावकों के आदर्श चरित्र दिये गये हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं : १. आनन्द, २. कामदेव, ३. चुलनीपिता, ४. सुरा-

देव, ५. चुल्लशतक, ६. कुंडकोलिक, ७. सद्दालपुत्र; ८. महाशतक, ९. नंदिनीपिता, १०. सालिहीपिता। आनन्द नामक प्रथम अध्ययन में श्रावक के बारह व्रतों का विशेष वर्णन किया गया है।

दशवैकालिक :

उत्तराध्ययनादि मूलसूत्रों में दशवैकालिक का भी समावेश किया जाता है। इसके कर्ता आचार्य शय्यंभव हैं। इसमें दस अध्ययन हैं। अन्त में दो चूलिकाएँ भी हैं। द्रुमपुष्पित नामक प्रथम अध्ययन में बताया गया है कि जैसे भ्रमर पुष्पों को बिना कष्ट पहुँचाये उनमें से रस का पान कर अपने आपको तृप्त करता है। वैसे ही भिक्षु आहार आदि की गवेषणा में किसी को तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचाता। श्रामण्यपूर्विक नामक द्वितीय अध्ययन में बताया गया है कि जो काम-भोगों का निवारण नहीं कर सकता वह संकल्प-विकल्प के अधीन होकर पद-पद पर स्खलित होता हुआ श्रामण्य को प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे अगंधन सर्प अग्नि में जल कर प्राण त्यागना स्वीकार कर लेता है किन्तु वमन किये हुए विष का पुनः पान नहीं करता वैसे ही सच्चा श्रमण त्यागे हुए काम-भोगों का किसी भी परिस्थिति में पुनः ग्रहण नहीं करता। क्षुल्लिकाचारकथा नामक तीसरे अध्ययन में निर्ग्रन्थों के लिए औद्देशिक भोजन, क्रीत भोजन, रात्रिभोजन, राजपिण्ड आदि का निषेध किया गया है तथा बताया गया है कि जो ग्रीष्मऋतु में आतापना लेते हैं, शीतकाल में ठंड सहन करते हैं तथा वर्षाऋतु में एक स्थान पर रहते हैं वे यत्नशील भिक्षु कहे जाते हैं। चौथा

अध्ययन षट् जीवनिकाय से सम्बन्धित है। इसमें पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय व त्रसकाय को मन, वचन व तन से हानि पहुँचाने का निषेध किया गया है तथा सर्व प्राणातिपात-विरमण, मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुन-विरमण और परिग्रह-विरमणरूप महाव्रतों एवं रात्रिभोजन-विरमणरूप व्रत का प्रतिपादन किया गया है। पांचवाँ पिण्डैषणा अध्ययन दो उद्देशों में विभक्त है। इनमें भिक्षासम्बन्धी विविध विधि-विधान हैं। छठे अध्ययन का नाम महाचारकथा है। इसमें चतुर्थ अध्ययनोक्त छः व्रतों एवं छः जीवनिकायों की रक्षा का विशेष विचार किया गया है। सातवाँ अध्ययन वाक्यशुद्धि से सम्बन्धित है। साधु को हमेशा निर्दोष, अकर्कश एवं असंदिग्ध भाषा बोलनी चाहिए। आठवें अध्ययन का नाम आचारप्रणिधि है। इसमें मन, वचन अ र काय से षट्काय जीवों के प्रति अहिंसक आचरण के विषय में अनेक प्रकार से विचार किया गया है। विनयसमाधि नामक नवाँ अध्ययन चार उद्देशों में विभक्त है। इनमें श्रमण के विनयगुण का विविध दृष्टियों से व्याख्यान किया गया है। सभिक्षु नामक दसवें अध्ययन में बताया गया है कि जिसकी ज्ञातपुत्र महावीर के वचनों में पूर्ण श्रद्धा है, जो षट्-काय के प्राणियों को आत्मवत् समझता है, जो पाँच महाव्रतों की आराधना एवं पाँच आस्रवों का निरोध करता है वह भिक्षु है, इत्यादि। रतिवाक्य नामक प्रथम चूलिका में चंचल मन को स्थिर करने का उपाय बताते हुए कहा गया है कि जैसे लगाम से चंचल घोड़ा वश में हो जाता है, अंकुश से उन्मत्त हाथी वश में आ

जाता है उसी प्रकार अठारह बातों का विचार करने से चंचल चित्त स्थिर हो जाता है, इत्यादि। विविक्तचर्या नामक द्वितीय चूलिका में साधु के कुछ कर्तव्याकर्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है। आचारांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक में कुछ बातें शब्दशः व कुछ अर्थतः मिलती-जुलती हैं।

आवश्यक :

आवश्यक का समावेश भी मूलसूत्रों में होता है। इसमें नित्य के कर्तव्यों–आवश्यक अनुष्ठानों का प्रतिपादन किया गया है। इसके छः अध्ययन हैं : १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वंदन, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग, ६. प्रत्याख्यान। सामायिक में यावज्जीवन–जीवनभर के लिए सब प्रकार के सावद्य योग—पापकारी कृत्यों का त्याग किया जाता है। चतुर्विंशतिस्तव में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की जाती है। वंदन में गुरु का नमस्कारपूर्वक स्तवन किया जाता है। प्रतिक्रमण में व्रतों में लगे अतिचारों की आलोचना की जाती है एवं भविष्य में उन दोषों की पुनरावृत्ति न करने की प्रतिज्ञा की जाती है। कायोत्सर्ग में शरीर से ममत्व भाव हटाकर उसे ध्यान के लिए स्थिर किया जाता है। प्रत्याख्यान में एक निश्चित अवधि के लिए चार प्रकार के आहार—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का त्याग किया जाता है।

दशाश्रुतस्कन्ध :

दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ और जीतकल्प छेदसूत्र कहलाते हैं। संभवतः छेद नामक प्रायश्चित्त

को ध्यान में रखते हुए इन्हें छेदसूत्र नाम दिया गया है। छेदसूत्रों में श्रमणाचार से सम्बन्धित प्रत्येक विषय का प्रतिपादन किया गया है। यह प्रतिपादन उत्सर्ग, अपवाद, दोष एवं प्रायश्चित्त से सम्बन्धित है। इस प्रकार का प्रतिपादन अंगादि सूत्रों में नहीं मिलता। इस दृष्टि से छेदसूत्रों का जैन आचारसाहित्य में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) की कृतियाँ मानी जाती हैं।

दशाश्रुतस्कन्ध को आचारदशा के नाम से भी जाना जाता है। इसमें दस अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन में द्रुत गमन, अप्रमार्जित गमन, दुष्प्रमार्जित गमन, अतिरिक्त शय्यासन आदि बीस असमाधि-स्थानों का उल्लेख है। द्वितीय अध्ययन में हस्तकर्म, मैथुनप्रतिसेवन, रात्रिभोजन, आधाकर्मग्रहण, राजपिण्डग्रहण आदि इक्कीस प्रकार के शबल-दोषों का वर्णन है। तृतीय अध्ययन में तैंतीस प्रकार की आशातनाओं पर प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ अध्ययन में आठ प्रकार की गणिसम्पदाओं—आचार-सम्पदा, श्रुत-सम्पदा, शरीर-सम्पदा, वचन-सम्पदा, वाचना-सम्पदा आदि का वर्णन है। पंचम अध्ययन दस प्रकार के चित्तसमाधि-स्थानों से सम्बन्धित है। षष्ठ अध्ययन मे एकादश उपासक-प्रतिमाओं तथा सप्तम अध्ययन में द्वादश भिक्षु-प्रतिमाओं का वर्णन है। अष्टम अध्ययन का नाम पर्यु-षणाकल्प है। वर्षाऋतु में श्रमण का एक स्थान पर रहना पर्युषणा कहलाता है। पर्युषणाविषयक कल्प अर्थात् आचार का नाम है पर्युषणाकल्प। प्रस्तुत अध्ययन में पर्युषणाकल्प के लिए विशेष उपयोगी महावीरचरितसम्बन्धी पाँच हस्तोत्तरों का निर्देश किया

गया है : १. हस्तोत्तर नक्षत्र में महावीर का देवलोक से च्युत होकर गर्भ में आना, २. हस्तोत्तर में गर्भ-परिवर्तन होना, ३. हस्तोत्तर में जन्म-ग्रहण करना, ४. हस्तोत्तर में प्रव्रज्या लेना, ५. हस्तोत्तर में ही केवलज्ञान की प्राप्ति होना। कल्पसूत्र के रूप में प्रचलित ग्रंथ इसी अध्ययन का पल्लवित रूप है। इसमें श्रमणभगवान् महावीर के जीवनचरित्र के अतिरिक्त मुख्य रूप से पार्श्व, अरिष्टनेमि और ऋषभ—इन तीन तीर्थंकरों की जीवनी भी दी गई है। अन्त में स्थविरावली एवं सामाचारी (श्रमण-जीवनसम्बन्धी नियमावली) भी जोड़ दी गई है। नवम अध्ययन में तीस मोहनीय-स्थानों का वर्णन है। दशम अध्ययन का नाम आयतिस्थान है। इसमें विभिन्न निदान-कर्मों अर्थात् मोहजन्य इच्छापूर्तिमूलक संकल्पों का वर्णन किया गया है जो जन्म-मरण की प्राप्ति के कारण हैं। इस प्रकार दशाश्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों में से एक अध्ययन श्रावकाचार से सम्बन्धित है जिसमें उपासक-प्रतिमाओं का वर्णन है। शेष नौ अध्ययन श्रमणाचारसम्बन्धी हैं।

बृहत्कल्प :

बृहत्कल्प सूत्र में छः उद्देश हैं। प्रथम उद्देश में तालप्रलम्ब, मासकल्प, आपणगृह, घटीमात्रक, चिलिमिलिका, दकतीर, चित्रकर्म, सागारिकनिश्रा, अधिकरण, चार, वैराज्य, अवग्रह, रात्रिभक्त, अध्वगमन, उच्चारभूमि, स्वाध्यायभूमि, आर्यक्षेत्र आदि विषयक विधि-निषेध उपलब्ध हैं। कहीं-कहीं अपवाद एवं प्रायश्चित्त की भी चर्चा है। द्वितीय उद्देश में प्रथम बारह सूत्र उपाश्रयविषयक हैं। आगे के तेरह सूत्रों में आहार, वस्त्र व रजोहरण का

विचार किया गया है। तृतीय उद्देश में उपाश्रय-प्रवेश, चर्म, वस्त्र, समवसरण, अन्तरगृह, शय्या-संस्तारक, सेना आदि से सम्बन्धित विधि-विधान हैं। चतुर्थ उद्देश में बताया गया है कि हस्तकर्म, मैथुन एवं रात्रिभोजन अनुद्घातिक अर्थात् गुरु प्रायश्चित्त के योग्य हैं। दुष्ट एवं प्रमत्त श्रमण के लिए पारांचिक प्रायश्चित्त का विधान है। सार्धमिक स्तैन्य, अन्यधार्मिक स्तैन्य एवं मुष्टिप्रहार आदि के लिए अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। पंडक, क्लीब आदि प्रव्रज्या के अयोग्य हैं। निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को कालातिक्रान्त एवं क्षेत्रातिक्रान्त अशनादि ग्रहण करना अकल्प्य है। उन्हें गंगा, यमुना, सरयू, कोशिका एवं मही नामक पाँच महानदियाँ महीने में एक बार से अधिक पार नहीं करनी चाहिए। ऐरावती आदि छोटी नदियाँ महीने में दो-तीन बार पार की जा सकती हैं। पंचम उद्देश में ब्रह्मापाय, परिहारकल्प, पुलाकभक्त आदि दस प्रकार के विषयों से सम्बन्धित दोषों व प्रायश्चित्तों का प्रतिपादन किया गया है। षष्ठ उद्देश में बताया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को छः प्रकार के वचन नहीं बोलने चाहिए: अलीक वचन, हीलित वचन, खिंसित वचन, परुष वचन, गार्हस्थिक वचन और व्यवशमितोदीरण वचन। कल्पस्थिति—आचारमर्यादा छः प्रकार की बताई गई है : सामायिकसंयतकल्पस्थिति, छेदोपस्थापनीयसंयतकल्पस्थिति, निर्विशमानकल्पस्थिति, निर्विष्टकायिककल्पस्थिति, जिनकल्पस्थिति और स्थविरकल्पस्थिति।

व्यवहार :

बृहत्कल्प और व्यवहार परस्पर पूरक हैं। व्यवहार सूत्र में दस

उद्देश हैं। पहले उद्देश में निष्कपट और सकपट आलोचक, एकल-विहारी साधु आदि से सम्बन्धित प्रायश्चित्तों का विधान है। दूसरे उद्देश में समान सामाचारी वाले दोषी साधुओं से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, सदोष रोगी की सेवा, अनवस्थित आदि की पुनः संयम में स्थापना, गच्छ का त्याग कर पुनः गच्छ में मिलने वाले की परीक्षा एवं प्रायश्चित्तदान आदि पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे उद्देश में निम्नोक्त बातों का विचार किया गया है: गच्छाधिपति की योग्यता, पदवीधारियों का आचार, तरुण श्रमण का आचार, गच्छ में रहते हुए अथवा गच्छ का त्याग कर अनाचार सेवन करने वाले के लिए प्रायश्चित्त, मृषावादी को पदवी प्रदान करने का निषेध। चतुर्थ उद्देश में निम्न विषयों पर प्रकाश डाला गया है : आचार्य आदि पदवी-धारियों का श्रमण-परिवार, आचार्य आदि की मृत्यु के समय श्रमणों का कर्तव्य, युवाचार्य की स्थापना इत्यादि। पंचम उद्देश साध्वियों के आचार, साधु-साध्वियों के पारस्परिक व्यवहार; वैयावृत्य आदि से सम्बन्धित है। षष्ठ उद्देश निम्नोक्त विषयों से सम्बन्धित है : साधुओं को अपने सम्बन्धियों के घर कैसे जाना चाहिए, आचार्य आदि के क्या अतिशय हैं, शिक्षित एवं अशिक्षित साधु में क्या विशेषता है, मैथुनेच्छा के लिए क्या प्रायश्चित्त है इत्यादि। सातवें उद्देश में निम्न बातों पर प्रकाश डाला गया है : संभोगी अर्थात् साथी साधु-साध्वियों का पारस्परिक व्यवहार, साधु-साध्वियों की दीक्षा—प्रव्रज्या, साधु-साध्वियों के आचार की भिन्नता, पदवी प्रदान करने का समुचित समय, राज्यव्यवस्था में परिवर्तन होने की स्थिति में श्रमणों का कर्तव्य

आदि। आठवें उद्देश में शय्या–संस्तारक आदि उपकरण ग्रहण करने की विधि पर प्रकाश डाला गया है। नवें उद्देश में मकान-मालिक के यहाँ रहे हुए अतिथि आदि के आहार से सम्बन्धित कल्पाकल्प का विचार किया गया है, साथ ही भिक्षु-प्रतिमाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। दसवें उद्देश में यवमध्य-प्रतिमा, वज्रमध्य-प्रतिमा, पांच प्रकार का व्यवहार, बालदीक्षा, विविध सूत्रों के पठन-पाठन की योग्यता आदि का प्रतिपादन किया गया है।

निशीथ :

निशीथ सूत्र में चार प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है : गुरुमासिक, लघुमासिक, गुरुचातुर्मासिक और लघुचातुर्मासिक। यहाँ गुरुमास अथवा मासगुरु का अर्थ उपवास तथा लघुमास अथवा मासलघु का अर्थ एकाशन समझना चाहिए। यह सूत्र बीस उद्देशों में विभक्त है। प्रथम उद्देश में निम्नलिखित क्रियाओं के लिए गुरुमास का विधान किया गया है: हस्तकर्म करना, अंगादान को काष्ठादि की नली में डालना अथवा काष्ठादि की नली को अंगादान में डालना, अंगुली आदि को अंगादान में डालना अथवा अंगादान को अंगुलियों से पकड़ना या हिलाना, अंगादान का मर्दन करना, अंगादान के ऊपर की त्वचा दूर कर अंदर का भाग खुला करना, पुष्पादि सूंघना, ऊँचे स्थान पर चढ़ने के लिए दूसरों से सीढ़ी आदि रखवाना, दूसरों से पर्दा आदि बनवाना, सूई आदि ठीक करवाना, अपने लिए माँग कर लाई हुई सूई

आदि दूसरों को देना, पात्र आदि दूसरों से साफ करवाना, सदोष आहार का उपभोग करना आदि : द्वितीय उद्देश में निम्नोक्त क्रियाओं के लिए लघुमास का विधान है : दारुदण्ड का पादप्रोंछन बनाना, कीचड़ के रास्ते में पत्थर आदि रखना, पानी निकलने की नाली आदि बनाना, सूई आदि को स्वयमेव ठीक करना, जरासा भी कठोर वचन बोलना, हमेशा एक ही घर का आहार खाना, दानादि लेने के पहले अथवा बाद में दाता की प्रशंसा करना, निष्कारण परिचित घरों में प्रवेश करना, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ की संगति करना, मकानमालिक के घर का आहार-पानी ग्रहण करना आदि। तीसरे, चौथे एवं पाँचवें उद्देश में भी लघुमास से सम्बन्धित क्रियाओं का उल्लेख है। छठे उद्देश में मैथुनसम्बन्धी निम्नोक्त क्रियाओं के लिए गुरुचातुर्मासिक (अनुद्घातिक) प्रायश्चित्त का विधान किया गया है : स्त्री अथवा पुरुष से मैथुनसेवन के लिए प्रार्थना करना, मैथुन की कामना से हस्तकर्म करना, स्त्री की योनि में लकड़ी आदि डालना, अचित्त छिद्र आदि में अंगादान प्रविष्ट कर शुक्र-पुद्गल निकालना, वस्त्र दूर कर नग्न होना, निर्लज्ज वचन बोलना, प्रेमपत्र लिखना-लिखवाना, गुदा अथवा योनि में लिंग डालना, डलवाना आदि। सातवें, आठवें, नवें, दसवें व ग्यारहवें उद्देश में भी मैथुनविषयक एवं अन्य प्रकार की दोषपूर्ण क्रियाओं के लिए गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान है। बारहवें से उन्नीसवें उद्देश तक लघुचातुर्मासिक (उद्घातिक) प्रायश्चित्त से सम्बन्धित क्रियाओं का प्रतिपादन किया गया है। ये क्रियाएँ

इस प्रकार हैं : प्रत्याख्यान का बार-बार भंग करना, गृहस्थ के वस्त्र, भाजन आदि का उपयोग करना, दर्शनीय वस्तुओं को देखने के लिए उत्कंठित रहना, प्रथम प्रहर में ग्रहण किया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर तक रखना, दो कोस से आगे जाकर आहार लाना, अपने उपकरण अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ से उठवाना, हस्तरेखा आदि देख कर फलाफल बताना, मंत्र-तंत्र सिखाना, विरेचन लेना अथवा औषधि का सेवन करना, शिथिलाचारी को वंदना-नमस्कार करना, पात्रादि मोल लेना, मोल लिवाना, मोल लेकर देने वाले से ग्रहण करना, उधार लेना, उधार लिवाना, उधार लेकर देनेवाले से ग्रहण करना, वाटिका आदि में टट्टी-पेशाब डालना, गृहस्थ आदि को आहार-पानी देना, दम्पति के शयनागार में प्रवेश करना, जुगुप्सित कुलों से आहारादि ग्रहण करना, गीत गाना, वाद्ययन्त्र बजाना, नृत्य करना, अकारण नाव में बैठना, स्वामी की अनुमति के बिना नाव में बैठना, इन्द्रमहोत्सव, स्कन्द-महोत्सव, यक्षमहोत्सव, भूतमहोत्सव आदि के समय स्वाध्याय करना, अस्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करना, स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय न करना, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ को पढ़ाना या उससे पढ़ना, शिथिलाचारियों को पढ़ाना अथवा उनसे पढ़ना आदि। बीसवें उद्देश में आलोचना एवं प्रायश्चित्त करते समय लगने वाले विविध दोषों के लिए विशेष प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। इस उद्देश के अन्त में तीन गाथाएँ हैं जिनमें निशीथ सूत्र के प्रणेता आचार्य विसाहगणि—विशाखगणी की प्रशस्ति की गई है। निशीथ सूत्र जैन आचारशास्त्रान्तर्गत निर्ग्रन्थ-

दण्डशास्त्र का अति महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, इसमें कोई संदेह नहीं।

महानिशीथ :

उपलब्ध महानिशीथ भाषा व विषय की दृष्टि से बहुत प्राचीन नहीं माना जा सकता। इसमें यत्र-तत्र आगमेतर ग्रंथों व आचार्यों के नाम भी मिलते हैं। यह छः अध्ययनों व दो चूलाओं में विभक्त है। प्रथम अध्ययन में पापरूपी शल्य की निन्दा एवं आलोचना की दृष्टि से अठारह पापस्थानकों का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय अध्ययन में कर्मविपाक का विवेचन किया गया है। तृतीय व चतुर्थ अध्ययनों में कुशील साधुओं की संगति न करने का उपदेश है। इनमें मंत्र-तंत्र, नमस्कार-मंत्र, उपधान, जिनपूजा आदि का विवेचन है। पंचम अध्ययन में गच्छ के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। षष्ठ अध्ययन में प्रायश्चित्त के दस व आलोचना के चार भेदों का विवेचन है। इसमें आचार्य भद्र के गच्छ में पाँच सौ साधु व बारह सौ साध्वियाँ होने का उल्लेख है। चूलाओं में सुसढ आदि की कथाएँ हैं। तृतीय अध्ययन में उल्लेख है कि महानिशीथ के दीमक के खाजाने पर हरिभद्रसूरि ने इसका उद्धार एवं संशोधन किया तथा आचार्य सिद्धसेन, वृद्धवादी, यक्षसेन, देवगुप्त, यशोवर्धन, रविगुप्त, नेमिचन्द्र, जिनदासगणी आदि ने इसे मान्यता प्रदान की—इसका बहुमान किया।

जीतकल्प :

जीतकल्प सूत्र जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण की कृति है। इसमें निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के विभिन्न अपराधविषयक प्रायश्चित्तों का

जीत-व्यवहार (परम्परा से प्राप्त एवं श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा अनुमत व्यवहार) के आधार पर प्ररूपण किया गया है। सूत्रकार ने बताया है कि संवर और निर्जरा से मोक्ष होता है तथा तप संवर और निर्जरा का कारण है। प्रायश्चित्त तपों में प्रधान है अतः प्रायश्चित्त का मोक्षमार्ग की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। इसके बाद सूत्रकार ने प्रायश्चित्त के निम्नलिखित दस भेदों का व्याख्यान किया है: १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. उभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. अनवस्थाप्य, १०. पारांचिक। इन दस प्रायश्चित्तों में से अन्तिम दो अर्थात् अनवस्थाप्य व पारांचिक अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर (प्रथम भद्रबाहु) तक ही विद्यमान रहे। तदनन्तर उनका लोप हो गया।

मूलाचार :

दिगम्बर परम्पराभिमत आचार-ग्रन्थों में वट्टकेराचार्यकृत मूलाचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे आचारांग भी कहा जाता है। इस पर आचार्य वसुनन्दी ने टीका लिखी है। इसमें साढ़े बारह सौ गाथाएँ हैं जो बारह अधिकारों में विभक्त हैं। इन अधिकारों के नाम इस प्रकार हैं : १. मूलगुण, २. बृहत्प्रत्याख्यान, ३. संक्षेपप्रत्याख्यान, ४. सामाचार, ५. पंचाचार, ६. पिण्डशुद्धि, ७. षडावश्यक, ८. द्वादशानुप्रेक्षा, ९. अनगारभावना, १०. समयसार, ११. शीलगुण, १२. पर्याप्ति। मूलगुणाधिकार में श्रमण के निम्नोक्त २८ मूलगुणों का वर्णन है : पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छः आवश्यक, लोच, अचेलकत्व,

अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त। बृहत्प्रत्याख्यान-अधिकार में सब पापों का त्यागकर मृत्यु के समय दर्शनादि आराधनाओं में स्थिर रहने तथा क्षुधादि परीषहों को जीतने का उपदेश है। संक्षेपप्रत्याख्यान-अधिकार में व्याघ्रादिजन्य आकस्मिक मृत्यु की उपस्थिति में सब पापों का त्याग कर समभावपूर्वक प्राण छोड़ने का उपदेश है। सामाचाराधिकार में इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, सनिमन्त्रणा और उपसम्पत्—इन दस प्रकार के औधिक सामाचारों का वर्णन है। इसमें यह भी बताया गया है कि तरुण श्रमण को तरुण श्रमणी के साथ संभाषण नहीं करना चाहिए; श्रमणों को श्रमणियों के साथ उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए; श्रमणियों को तीन, पाँच अथवा सात की संख्या में (पारस्परिक संरक्षण की भावना से) भिक्षा के लिए जाना चाहिए; आर्याओं को आचार्य से पाँच हाथ दूर, उपाध्याय से छः हाथ दूर एवं साधु से सात हाथ दूर बैठ कर वंदना करनी चाहिए। इस प्रकार सामाचाराधिकार में साधु-साध्वियों के पारस्परिक व्यवहार का भी कुछ विचार किया गया है। पंचाचाराधिकार में दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपआचार व वीर्याचार का भेद-प्रभेदपूर्वक वर्णन किया गया है। पिण्डशुद्धि-अधिकार में निम्नोक्त आठ प्रकार के दोषों से रहित आहारशुद्धि का प्रतिपादन किया गया है: १. उद्गम, २. उत्पादन, ३. एषण, ४. संयोजन, ५. प्रमाण, ६. अंगार, ७. धूम, ८. कारण। षडावश्यक-अधिकार में सर्वप्रथम पंचनमस्कार-निरुक्ति की

गई है। तदनन्तर निम्नलिखित छः आवश्यकों की निरुक्ति है : १. सामायिक, २. चतुर्विंशस्तव, ३. वंदना, ४. प्रतिक्रमण, ५. प्रत्याख्यान, ६. कायोत्सर्ग। द्वादशानुप्रेक्षा-अधिकार निम्नोक्त बारह भावनाओं से सम्बन्धित है : १. अध्रुव, २. अशरण, ३. एकत्व, ४. अन्यत्व, ५. संसार, ६. लोक, ७. अशुभत्व, ८. आस्रव, ९. संवर, १०. निर्जरा, ११. धर्म, १२. बोधि। अनगारभावना-अधिकार में दस प्रकार की शुद्धियों से युक्त मुनि को मोक्ष की प्राप्ति बतलाई गई है : १. लिंगशुद्धि, २. व्रतशुद्धि, ३. वसतिशुद्धि, ४. विहारशुद्धि, ५. भिक्षाशुद्धि, ६. ज्ञानशुद्धि, ७. उज्झनशुद्धि (परित्यागशुद्धि), ८. वाक्यशुद्धि, ९. तपःशुद्धि, १०. ध्यान-शुद्धि। समयसाराधिकार में चारित्र को प्रवचन का सार बताया गया है एवं कहा गया है कि भ्रष्टचारित्र श्रमण सुगति प्राप्त नहीं कर सकता। इसमें चार प्रकार का लिंगकल्प बताया गया है : अचेलकत्व, लोच, व्युत्सृष्टशरीरता और प्रतिलेखन (पिच्छिका) शीलगुणाधिकार में शील के अठारह हजार भेदों का निरूपण है। पर्याप्ति-अधिकार में निम्नोक्त छः पर्याप्तियों का भेद-प्रभेदपूर्वक वर्णन किया गया है : १. आहारपर्याप्ति, २. शरीरपर्याप्ति, ३. इन्द्रियपर्याप्ति, ४. आनप्राणपर्याप्ति (श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति), ५. भाषापर्याप्ति, ६. मनःपर्याप्ति। इसमें चतुर्दश गुणस्थानों एवं चतुर्दश मार्गणास्थानों का भी समावेश है। मूलाचार की अनेक गाथाएं दशवैकालिक, दशवैकालिक-निर्युक्ति, आवश्यक-निर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, भक्तपरिज्ञा, मरणसमाधि आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों से मिलती हैं।

मूलाराधना :

मूलाराधना का दूसरा नाम भगवती-आराधना है। यह भी दिगम्बर सम्प्रदाय का एक प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें नामानुरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप रूप चार प्रकार की मूल आराधनाओं का दो हजार से अधिक गाथाओं में विवेचन है। यह ग्रन्थ चालीस अधिकारों में विभक्त है। इसकी रचना करने वाले आचार्य हैं शिवार्य अथवा शिवकोटि। मूलाचार की ही भाँति इसकी भी अनेक गाथाएँ आवश्यक-निर्युक्ति, बृहत्कल्प-भाष्य, संस्तारक, भक्तपरिज्ञा, मरणसमाधि आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों से मिलती हैं। इस पर अपराजितसूरि, आशाधर आदि की टीकाएँ हैं। इस ग्रन्थ में आचारांग, कल्प (बृहत्कल्प), व्यवहार एवं जीतकल्प का उल्लेख है। इसके मुख्य विषयों के नाम इस प्रकार हैं : मरण व उसके सत्रह भेद, आचेलक्य, लोच, देहममत्वत्याग व प्रतिलेखन (पिच्छिका), रूप चार निर्ग्रन्थलिंग, विनय व उसके भेद, समाधि-अधिकार, अनियत विहार, उपाधित्याग, भावना-अधिकार, सल्लेखना व उसके उपाय, वैयावृत्य व तत्सम्बद्ध गुण, आर्यिका-संगति का त्याग, दुर्जन-संगति का त्याग, दशविधकल्प, आलोचना-अधिकार, योग्यायोग्य वसति, परिचारकों के कर्तव्य, आहार-प्रकरण, क्षपणाधिकार, पंचनमस्कार, पंचमहाव्रत, कषायविजय, चार ध्यान, छः लेश्याएँ, बारह भावनाएँ, मृतकसंस्कार आदि। मार्गणा-अधिकार में आचार (आचारांग), जीत (जीतकल्प) व कल्प (बृहत्कल्प) का उल्लेख है। सुस्थित-अधि-

कार में आगम, आज्ञा, श्रुत, धारणा और जीत रूप पांच प्रकार के व्यवहार का वर्णन है। इसमें व्यवहार सूत्र की प्रधानता बताई गई है। भावना-अधिकार में गजसुकुमार, अग्निकापुत्र, भद्रबाहु, धर्मघोष, चिलातपुत्र आदि अनेक मुनियों की कथाएँ हैं जिन्होंने विविध परीषह सहन कर सिद्धि प्राप्त की।

रत्नकरण्डक-श्रावकाचार :

आचार्य समंतभद्रकृत रत्नकरण्डक श्रावकाचार का एक संस्कृत ग्रन्थ है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र रूप त्रिरत्नधर्म की आराधना का उपदेश है। ग्रन्थ में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का स्वरूप बतलाया गया है एवं उसकी महिमा का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि सम्यग्दर्शनयुक्त चांडाल को भी देवसदृश समझना चाहिये। मोहरहित अर्थात् सम्यग्दृष्टिसम्पन्न गृहस्थ मोक्षाभिमुख होता है। जबकि मोहयुक्त अर्थात् मिथ्यादृष्टिसम्पन्न मुनि मोक्षविमुख होता है। अतएव मोहयुक्त मुनि से मोहरहित गृहस्थ श्रेष्ठ है। इसके बाद आचार्य ने सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताते हुए तद्विषय-गत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग का सामान्य परिचय दिया है। तदनन्तर सम्यक्-चारित्र की पात्रता एवं आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए उसे हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन एवं परिग्रहात्मक पाप से विरतिरूप बताया है। चारित्र के सकल और विकलरूप दो भेद करके यह उल्लेख किया है कि सकलचारित्र सर्वविरत मुनियों के होता है जबकि

विकलचारित्र देशविरत गृहस्थों के होता है। विकलचारित्र के बारह भेद हैं: पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। अहिंसादि पांच अणुव्रतों का अतिचारसहित स्वरूप समझाते हुए यह प्रतिपादन किया है कि ये पाँच अणुव्रत तथा मद्य, मांस और मधु का त्याग ये आठ श्रावक के मूलगुण हैं। अहिंसादि अणुव्रतों की ही भांति दिग्व्रतादि तीन गुणव्रतों एवं देशावकाशिकादि चार शिक्षाव्रतों का अतिचारसहित वर्णन किया है। सल्लेखना की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए ग्रंथकार ने संक्षेप में समाधि-मरण की विधि का निर्देश किया है एवं सल्लेखना के पांच अति-चार बताये हैं। अन्त में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप समझाया गया है।

वसुनन्दि-श्रावकाचार :

आचार्य वसुनन्दिकृत श्रावकाचार ५४६ गाथाप्रमाण है। इसमें उपासक के छोटे-बड़े सभी कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। प्रारम्भ में आचार्य ने मंगलाचरण करते हुए श्रावकधर्म का प्ररूपण करने की प्रतिज्ञा की है। तदनन्तर श्रावक की निम्नोक्त ग्यारह प्रतिमाओं को आधार बनाकर श्रावकाचार का प्रतिपादन किया है: १. दर्शन, २. व्रत, ३. सामायिक, ४. पौषध, ५. सचित्तत्याग, ६. रात्रिभुक्तित्याग, ७. ब्रह्मचर्य, ८. आरम्भत्याग, ९. परिग्रहत्याग, १०. अनुमतित्याग, ११. उद्दिष्टत्याग। चूंकि ये प्रतिमास्थान सम्यक्त्व से रहित जीव के नहीं होते अतः इसके बाद सम्यक्त्व का वर्णन किया गया है एवं

बताया गया है कि जो सम्यक्त्वी जीव पांच उदुम्बरों तथा सात व्यसनों के सेवन का त्याग करता है वह प्रथम प्रतिमाधारी दर्शन-श्रावक कहलाता है। द्वितीय प्रतिमा में स्थूल प्राणातिपात-विरति आदि बारह व्रतों का पालन किया जाता है। इसी प्रकार आगे की प्रतिमाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य वसुनन्दि ने श्रावक के छोटे-बड़े सभी कर्तव्यों का प्रतिपादन किया है तथापि निम्नलिखित बातों की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से गया है : द्यूत, मद्य, मांस, वेश्या, आखेट, चोरी और परदार-सेवनरूप सात व्यसन व उनसे प्राप्त होने वाले चतुर्गति-सम्बन्धी दुःख; दान, दान के योग्य पात्र, दाता, दातव्य पदार्थ व दानफल; पंचमी, रोहिणी, अश्विनी आदि व्रत-विधान; नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-रूप छः प्रकार की पूजा; जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप व फल से पूजन करने का फल; जिनप्रतिमा-स्थापन, जिन-प्रतिमा-निर्माण, जिनाभिषेक एवं जिनभवन-निर्माण का फल।

सागार-धर्मामृत :

पण्डितप्रवर आशाधर की श्रावकाचार एवं श्रमणाचार दोनों पर कृतियाँ हैं। उनका सागार-धर्मामृत श्रावकाचार से सम्बन्धित है जबकि अनगार-धर्मामृत का सम्बन्ध श्रमणाचार से है। सागार-धर्मामृत आठ अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में सागारधर्म का सामान्य स्वरूप प्रतिपादित करते हुए श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक व साधकरूप तीन प्रकारों का लक्षण

बताया गया है। द्वितीय अध्याय पाक्षिकाचार से सम्बन्धित है। तृतीय अध्याय में नैष्ठिक श्रावक के आचार पर विशेष प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ अध्याय में अणुव्रतपंचक की समीक्षा की गई है। पंचम अध्याय शीलसप्तक अर्थात् दिग्व्रतादि तीन गुणव्रतों एवं देशावकाशिकादि चार शिक्षाव्रतों से सम्बन्धित है। षष्ठ अध्याय में श्रावक के आहोरात्रिक आचार पर प्रकाश डाला गया है। सप्तम अध्याय में सामायिकादि नौप्रतिमाओं का स्वरूप बताया गया है। अष्टम अध्याय में सल्लेखना की विधि बताई गई है। सागार-धर्मामृत में श्रावकाचार के पूर्ववर्ती समस्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का सार समाविष्ट किया गया है। इसमें श्रावक का कोई भी आवश्यक कर्तव्य छूटने नहीं पाया है। तृतीय अध्याय में सप्त व्यसनों के अतिचारों का वर्णन करके ग्रंथकार ने सागार-धर्मामृत को एक विशेषता प्रदान की है जो पूर्ववर्ती किसी ग्रंथ में नहीं पाई जाती।

अनगार-धर्मामृत :

जिस प्रकार पंडितप्रवर आशाधर के सागार-धर्मामृत में श्रावकाचार के पूर्ववर्ती समस्त ग्रन्थों का सार समाविष्ट है उसी प्रकार उनके अनगार-धर्मामृत में श्रमणाचार के पूर्ववर्ती सब महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का निचोड़ है। अनगार-धर्मामृत नौ अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में धर्म के स्वरूप का निरूपण है। दूसरा अध्याय सम्यक्त्व—सम्यग्दर्शन के उत्पादन से सम्बन्धित है। तीसरे अध्याय में सम्यग्ज्ञान की आराधना पर प्रकाश डाला

गया है। चौथा अध्याय सम्यक्चारित्र की आराधना पर प्रकाश डालता है। पांचवें अध्याय में पिण्डविशुद्धि का विचार किया गया है। इसमें आहारशुद्धि से सम्बन्धित निम्नोक्त दोषों का प्रतिपादन है: सोलह उद्गम-दोष, सोलह उत्पादन-दोष, दस शंकितादि दोष, अंगार, धूम, संयोजन और प्रमाण—ये ४६ पिण्डदोष; पूय, अस्र, पल, अस्थि, अजिन, नख, कच, मृतविकल-त्रिक, कंद, बीज, मूल, फल, कण और कुण्ड—ये १४ अन्नगत मल; काकादि ३२ अन्तराय। छठे अध्याय में महोद्योग—मार्ग का वर्णन है। इसमें दशलक्षण धर्म, द्वादशविध अनुप्रेक्षा व द्वाविंशति परीषहजय का प्रतिपादन किया गया है। सातवें अध्याय में सम्यक् तप की आराधना का उपदेश है। आठवां अध्याय षडावश्यक से सम्बन्धित है। नवें अध्याय में नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लगभग एक हजार श्लोक हैं। सागार-धर्मामृत व अनगार-धर्मामृत दोनों पर स्वोपज्ञ टीकाएँ हैं।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं के आचार-विषयक ग्रन्थों के उपर्युक्त परिचय से स्पष्ट है कि इन दोनों परम्पराओं के आचारमूलक सिद्धान्तों व नियमों में कितना साम्य है। मूलतः इनमें कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। यहाँ तक कि दिगम्बर परम्पराभिमत मूलाचार जो कि इस परम्परा का आचारांग है, श्रमण-श्रमणियों के पारस्परिक व्यवहार का भी यथोचित विधान करता है। इससे स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में साध्वीसंस्था भी उसी प्रकार मान्य एवं आदरणीय रही है

जिस प्रकार कि साधुसंस्था। यदि ऐसा न होता तो मूलाचार के सामाचाराधिकार में श्रमणियों के कल्प का प्रसंग उपस्थित न होता। शिवार्यकृत मूलाराधना में भी संयतियों के लिये आर्यिका-संगति के त्याग का उपदेश है। इससे भी साध्वी-संस्था की मान्यता सिद्ध होती है। चतुर्विध संघ की सिद्धि के लिये ऐसा होना अनिवार्य भी है।

●

श्रा व का चा र

अणुव्रत

गुणव्रत

शिक्षाव्रत

सल्लेखना अथवा संथारा

प्रतिमाएँ

प्रतिक्रमण

●

व्रतधारी गृहस्थ को श्रावक; उपासक, अणुव्रती, देशविरत, सागार आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। गुणस्थान की दृष्टि से वह पंचम गुणस्थानवर्ती माना जाता है। चूँकि वह श्रद्धापूर्वक अपने गुरुजनों अर्थात् श्रमणों से निर्ग्रन्थ-प्रवचन का श्रवण करता है अतः उसे श्राद्ध अथवा श्रावक कहा जाता है। श्रमणवर्ग की उपासना करने के कारण वह श्रमणोपासक अथवा उपासक कहलाता है। अणुव्रतरूप एकदेशीय अर्थात् अपूर्ण संयम अथवा विरति धारण करने के कारण उसे अणुव्रती, देशविरत, देशसंयमो अथवा देशसंयती कहा जाता है। चूँकि वह आगार अर्थात् घर में रहता है—उसने घरबार का त्याग नहीं किया है अतएव उसे सागार, आगारी, गृहस्थ, गृही आदि नामों से पुकारा जाता है। श्रावकाचार के ग्रंथों में उपासक-धर्म का प्रतिपादन तीन प्रकार से किया गया है: १. बारह व्रतों के आधार पर, २. ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर, ३. पक्ष, चर्या अथवा निष्ठा एवं साधन के आधार पर। उपासकदशांग, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डक-श्रावकाचार आदि में सल्लेखनासहित बारह व्रतों के आधार पर श्रावक-धर्म का प्रतिपादन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र-प्राभृत में, स्वामी कार्तिकेय ने अनुप्रेक्षा में एवं आचार्य वसुनन्दि ने वसुनन्दि-श्रावकाचार

में ग्यारह प्रतिमाओं को आधार बनाकर श्रावक-धर्म का प्ररूपण किया है। पंडित आशाधर ने सागार-धर्मामृत में पक्ष, निष्ठा एवं साधन को आधार बनाकर श्रावक-धर्म का विवेचन किया है। इस पद्धति के बीज आचार्य जिनसेन के आदिपुराण (पर्व ३९) में पाये जाते हैं। इसमें सावद्य क्रिया अर्थात् हिंसा की शुद्धि के तीन प्रकार बताये गये हैं : पक्ष, चर्या और साधन। निर्ग्रंथ देव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा निर्ग्रन्थ धर्म को ही मानना पक्ष है। ऐसा पक्ष रखने वाले गृहस्थ को पाक्षिक श्रावक कहते हैं। ऐसे श्रावक की आत्मा में मैत्री, प्रमोद, करुणा व माध्यस्थ्यवृत्ति होती है। जीवहिंसा न करते हुए न्यायपूर्वक आजीविका का उपार्जन करना तथा श्रावक के बारह व्रतों एवं ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना चर्या अथवा निष्ठा है। इस प्रकार की चर्या का आचरण करने वाले गृहस्थ को नैष्ठिक श्रावक कहते हैं। जीवन के अन्त में आहारादि का सर्वथा त्याग करना साधन है। इस प्रकार के साधन को अपनाते हुए ध्यानशुद्धिपूर्वक आत्मशोधन करने वाला साधक श्रावक कहलाता है। उपासक-धर्म का प्रतिपादन करने वाले उक्त तीन प्रकारों में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। अहिंसादि बारह व्रत एवं सल्लेखना श्रावक-धर्म के सम्यक् प्रतिपालन के लिए सामान्यतया आवश्यक हैं। बारह व्रतधारी श्रावक विशेष आत्मसाधना के लिए उपयुक्त समय पर ग्यारह प्रतिमाओं को क्रमशः धारण करता है। पक्ष, चर्या अथवा निष्ठा एवं साधन द्वादश व्रतधारी श्रावक की आचार-मर्यादा के ही प्रकारान्तर से किये गये तीन भेद हैं।

श्रावक के बारह व्रतों में से प्रथम पाँच अणुव्रत, बाद के तीन गुणव्रत एवं अन्तिम चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। यद्यपि श्वेताम्बर व दिगम्बर ग्रंथों में गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों के नामों व गणना-क्रम में परस्पर एवं आन्तरिक दोनों प्रकार के मतभेद हैं तथापि यह कहा जा सकता है कि दिशापरिमाण, भोगोपभोगपरिमाण एवं अनर्थदण्डविरमण रूप गुणव्रत तथा सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास एवं अतिथिसंविभाग रूप शिक्षाव्रत साधारणतया अभीष्ट एवं उपयुक्त हैं। उपासकदशांग में गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों का संयुक्त नाम शिक्षाव्रत ही दिया है तथा पंच-अणुव्रतों व सप्त-शिक्षाव्रतों को द्वादश प्रकार के गृहस्थ-धर्म के अंग कहा है।

अणुव्रत :

श्रमण के अहिंसादि पाँच महाव्रतों की अपेक्षा लघु होने के कारण श्रावक के प्रथम पाँच व्रत अणुव्रत अर्थात् लघुव्रत कहलाते हैं। जिस प्रकार सर्वविरत श्रमण के लिए पांच महाव्रत प्राणभूत हैं उसी प्रकार श्रावक के लिए पाँच अणुव्रत जीवनरूप हैं। जैसे पाँच महाव्रतों के अभाव में श्रामण्य निर्जीव होता है वैसे ही पाँच अणुव्रतों के अभाव में श्रावक-धर्म निष्प्राण होता है। यही कारण है कि अणुव्रतों को श्रावक के मूलगुण कहा गया है। इस दृष्टि से दिशापरिमाणादि शेष सात व्रतों को श्रावक के उत्तरगुण कह सकते हैं। इस प्रकार जैसे मुनि अर्थात् श्रमण के गुण मूल एवं उत्तर गुणरूप दो विभागों में विभक्त हैं

वैसे ही श्रमणोपासक श्रावक के गुण भी मूलगुण एवं उत्तरगुण के रूप में विभाजित हैं। मूलगुण श्रमण-धर्म अथवा श्रावक-धर्म के आधारभूत स्तम्भ हैं। उत्तरगुण मूलगुणों की पुष्टि एवं दृढता के लिए हैं। श्रावक के मूलगुणरूप पाँच अणुव्रतों के नाम इस प्रकार हैं : १. स्थूल प्राणातिपात-विरमण, २. स्थूल मृषावाद-विरमण, ३. स्थूल अदत्तादान-विरमण, ४. स्वदार-संतोष, ५. इच्छा-परिमाण।

१. स्थूल प्राणातिपात-विरमण—सर्वविरत अर्थात् महाव्रती मुनि प्राणातिपात अर्थात् हिंसा का पूर्ण त्यागी होता है (प्रमाद-जन्य अथवा कषायजन्य हिंसा का सर्वथा त्याग करता है) जब कि देशविरत अर्थात् अणुव्रती श्रावक केवल स्थूल हिंसा का त्याग करता है क्योंकि गृहस्थ होने के नाते उसे अनेक प्रकार से सूक्ष्म हिंसा तो करनी ही पड़ती है। इसीलिए श्रावक का प्राणातिपात-विरमण अर्थात् हिंसा-विरति स्थूल है—दीर्घ है। श्रमण की सर्व हिंसा-विरति की तुलना में श्रावक की स्थूल हिंसा-विरति देश-विरति अर्थात् आंशिक विरति कही जाती है। इसके द्वारा व्यक्ति आंशिक अहिंसा की साधना करता है—अहिंसाव्रत का आंशिक रूप से पालन करता है। श्रमण मन, वचन अथवा काया से किसी भी प्राणी की—चाहे वह त्रस हो अथवा स्थावर—न तो हिंसा करता है, न किसी से करवाता है और न करने वाले का समर्थन ही करता है। इस प्रकार श्रमण हिंसा का तीन योग (मन, वचन व काया) और तीन करण (करना, करवाना व अनुमोदन करना) पूर्वक त्याग करता है। उसका यह त्याग

सर्वविरति कहलाता है। श्रावक इस प्रकार हिंसा का त्याग नहीं करता। वह केवल त्रस (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय) प्राणियों की हिंसा से विरत होता है। उसकी यह विरति तीन योग व तीन करणपूर्वक नहीं होती अपितु तीन योग व दो करणपूर्वक ही होती है। वह निरपराध प्राणियों को मन, वचन अथवा काया से न स्वयं मारता है और न दूसरों से मरवाता है। परिस्थितिविशेष में स्थूल हिंसा का समर्थन करने की वह छूट रखता है। यह श्रावक की देशविरति अथवा उपासक का स्थूल प्राणातिपात-विरमण व्रत है। श्रावक ऐसी कोई भी प्रवृत्ति करने के लिए स्वतन्त्र होता है जिसमें स्थूल हिंसा की संभावना न हो। इस प्रकार की प्रवृत्ति वह दूसरों से भी करवा सकता है। ऐसा करने में उसके व्रतभंग का कोई प्रश्न उपस्थित नहीं होता। वह कोई भी कार्य करता है अथवा करवाता है, इसकी पूरी सावधानी रखता है कि किसी को कष्ट न हो, किसी को चोट न पहुँचे, किसी की हिंसा न हो, किसी के प्रति अन्याय न हो। विवेकपूर्वक पूर्ण सावधानी रखते हुए कार्य करने पर भी किसी की हिंसा हो जाय तो श्रावक के अहिंसा-व्रत का भंग नहीं होता। कर्तव्य-अकर्तव्य एवं न्याय-अन्याय का विवेक न रखना हिंसा को प्रोत्साहन देना है। इससे अहिंसा-व्रत की रक्षा नहीं हो सकती। अहिंसा की रक्षा के लिए विवेकशीलता—सत्यासत्यविचारणा अनिवार्य है। विचार की सूक्ष्मता, गंभीरता एवं यथार्थता तथा दृष्टि की विशालता, अमूढता एवं निष्पक्षता अहिंसा की सुरक्षा के सुदृढ साधन हैं—

अमोघ अस्त्र हैं। इनके अभाव में अहिंसा निष्प्राण होकर जडवत् हो जाती है—मर जाती है। अहिंसा-व्रत का पालन करने वाला श्रावक जितना किसी को मारने में भय का अनुभव करता है उतना मरने में नहीं। वह अपनी व्रत-रक्षा के लिए सदैव प्राणोत्सर्ग करने को तैयार रहता है। वह न स्वयं भयभीत होता है, न किसी को भयभीत करता है। हिंसा व अन्याय के सामने सिर झुकाना उसका काम नहीं। वह वीरता व विवेकपूर्वक हिंसा व अन्याय का प्रतीकार करता है—सामना करता है। निर्भयता अर्थात् वीरता अहिंसादि व्रतों का आधार-स्तम्भ है। कायर अर्थात् डरपोक व्यक्ति न तो अपनी रक्षा कर सकता है, न अपने व्रतों की। उसकी कायरतापूर्ण प्रवृत्तियों से हिंसा, अन्याय एवं अनाचार को ही प्रोत्साहन मिलता है। जिसे अपने शरीर का अत्यधिक मोह होता है वह न श्रावक के अहिंसादि अणुव्रतों का यथार्थ पालन कर सकता है, न श्रमण के अहिंसादि महाव्रतों को सम्यक्तया निभा सकता है। वह हमेशा दूसरों से डरता रहता है। उसके द्वारा न किसी का हिंसक प्रतीकार संभव होता है, न किसी का अहिंसक प्रतीकार। वह दब्बू बन कर न्याय-अन्याय सब कुछ चुपचाप सह लेता है। ऐसा व्यक्ति अपने व्रतों का पालन कैसे कर सकता है, अपने कर्तव्य-धर्म को कैसे निभा सकता है? सच्चा श्रावक एवं सच्चा श्रमण वही है जो कष्टों का वीरतापूर्वक सामना करता है, उनसे भयभीत होकर अपना पीछा छुड़ाने की कोशिश नहीं करता। किसी कष्ट का किस प्रकार सामना करना—

यह तद्विषयक परिस्थिति एवं सामना करने वाले की मानसिक भूमिका व व्रतमर्यादा पर निर्भर है। इसके विषय में किसी प्रकार का ऐकान्तिक विधान अथवा आग्रह नहीं है।

सावधानीपूर्वक व्रत का पालन करते हुए भी कभी-कभी प्रमादवश अथवा अज्ञानवश दोष लगने की संभावना रहती है। इस प्रकार के दोषों को अतिचार कहा जाता है। स्थूल अहिंसा अथवा स्थूल प्राणातिपात-विरमण के पांच मुख्य अतिचार हैं :-१. बन्ध, २. वध, ३. छविच्छेद, ४. अतिभार ५. अन्नपान-निरोध। ये अथवा इसी प्रकार के अन्य अतिचार श्रावक के जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं। बन्ध का अर्थ है किसी त्रस प्राणी को कठिन बंधन से बांधना अथवा उसे अपने इष्ट स्थान पर जाने से रोकना। अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को निश्चित समय से अधिक काल तक रोकना, उनसे निर्दिष्ट समय के उपरान्त कार्य लेना, उन्हें अपने इष्ट स्थान पर जाने में अंतराय पहुँचाना आदि बंध के ही अन्तर्गत हैं। किसी भी त्रस प्राणी को मारना वध है। पीटना भी वध का ही एक रूप है। अपने आश्रित व्यक्तियों को अथवा अन्य किसी को निर्दयतापूर्वक या क्रोधवश मारना-पीटना, गाय, भैंस, घोड़ा, बैल आदि को लकड़ी, चाबुक, पत्थर आदि से मारना, किसी पर अनावश्यक अथवा अनुचित आर्थिक भार डालना, किसी की लाचारी का अनुचित लाभ उठाना, किसी का अनैतिक ढंग से शोषण कर अपनी स्वार्थपूर्ति करना आदि वध में समाविष्ट हैं। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी प्राणी की हत्या करना, किसी को मारना-पीटना,

संताप पहुँचाना, तड़फाना, चूसना आदि वध के ही विविध रूप हैं। अनीतिपूर्वक किसी की आजीविका छीनना अथवा नष्ट करना भी वध का ही एक रूप है। संक्षेप में स्वार्थवश किसी निरपराधी पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रहार करना वध है। इस अतिचार से बचने का यही उपाय है कि जिस प्रवृत्ति में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से त्रस प्राणियों की हिंसा होती हो—वध होता हो उस प्रवृत्ति से निर्लिप्त रहा जाय—अलग रहा जाय। जिस व्यक्ति में स्वार्थ-भावना जितनी कम होगी वह वध के अतिचार से उतना ही दूर रहेगा। निःस्वार्थ एवं परोपकारमूलक प्रवृत्ति स्वाभाविकतया हिंसादोष से दूर रहती है। जिसके हृदय में सर्वहित की भावना विद्यमान होगी वह किसी का वध क्यों करेगा? जिसे किसी के प्रति राग अथवा द्वेष नहीं होगा वह किसी की हिंसा क्यों करेगा? परोपकारी के हृदय में सबकी रक्षा करने की भावना होती है, किसी का वध करने की नहीं। वह जो कुछ भी प्रवृत्ति करता है, सार्वजनिक हित के लिए करता है, किसी के अहित के लिए नहीं। इसीलिए उसकी प्रवृत्ति शुद्ध एवं अहिंसक मानी जाती है। महात्मा गांधी ने इस प्रकार की अहिंसक प्रवृत्ति के अनेक प्रयोग किये जो एक आदर्श श्रावक के लिए अनुकरणीय हैं—आचरणीय हैं। महान् एवं पवित्र प्रवृत्ति में यदि अल्प हिंसा होती भी हो तो वह नगण्य है। उससे प्रवृत्ति की पवित्रता एवं महानता अल्प नहीं होती। जिस प्रवृत्ति का उद्देश्य महान् एवं पवित्र हो, जिसके पीछे रही हुई भावना प्रशस्त एवं उदात्त हो, जिसका संचालन विवेक एवं सतर्कता से हो वह अल्पारंभ अर्थात् अल्प हिंसा के कारण

दूषित नहीं हो जाती। इस प्रकार की प्रवृत्ति करने वाला श्रावक वधदोष का भागी नहीं होता। स्थूल अहिंसा का तीसरा अतिचार छविच्छेद है। किसी भी प्राणी के अंगोपांग काटना छविच्छेद कहलाता है। चूंकि छविच्छेद से प्राणी को पीड़ा होती है अतः वह त्याज्य है। छविच्छेद की तरह वृत्तिच्छेद भी दोषयुक्त है। किसी की वृत्ति अर्थात् आजीविका का सर्वथा छेद करना याने रोजी छीन लेना तो वधरूप होने के कारण दोषयुक्त है ही, उचित पारिश्रमिक में न्यूनता करना, कम वेतन देना, कम मजदूरी देना, अनुचित रूप से वेतन या मजदूरी काट लेना, नौकर या मजदूर को छुट्टी आदि की पूरी सुविधाएँ न देना आदि क्रियाएँ भी छविच्छेद की ही भाँति दोषयुक्त हैं। चौथा अतिचार अतिभार है। बैल, ऊँट, अश्व आदि पशुओं पर अथवा मजदूर, नौकर आदि मनुष्यों पर उनकी शक्ति के अतिरिक्त बोझ लादना अतिभार कहलाता है। शक्ति एवं समय होने पर भी अपना काम खुद न कर दूसरों से करवाना अथवा किसी से शक्ति से अधिक काम लेना भी अतिभार ही है। पांचवां अतिचार अन्नपाननिरोध है। किसी के खान-पान में रुकावट डालने वाला इस अतिचार का भागी होता है। नौकर आदि को समय पर खाना न देना, पूरा खाना न देना, ठीक खाना न देना, अपने पास संग्रह होने पर भी आवश्यकता के समय किसी की सहायता न करना, अपने अधीनस्थ पशुओं एवं मनुष्यों को पर्याप्त खाना आदि न देना अन्नपाननिरोध नहीं है तो क्या है ? अहिंसा की आराधना करने वाले श्रावक को इन सब अतिचारों से दूर रहना चाहिए—इस प्रकार के अनेक दोषों से

बचना चाहिए।

२. स्थूल मृषावाद-विरमण—जिस प्रकार श्रमणोपासक के लिए स्थूल प्राणातिपात अर्थात् हिंसा से बचना आवश्यक है उसी प्रकार उसके लिए स्थूल मृषावाद अर्थात् झूठ से बचना भी जरूरी है। जिस प्रकार हिंसा न करना प्राणातिपात-विरमण व्रत का निषेधात्मक पक्ष है तथा रक्षा, अनुकम्पा, परोपकार आदि करना अहिंसा का विधेयात्मक रूप है उसी प्रकार असत्य वचन न बोलना मृषावाद-विरमण व्रत का निषेधात्मक पक्ष है तथा सत्य वचन बोलना इस व्रत का विधेयात्मक रूप है। इससे व्यक्ति को सत्यनिष्ठ होने की शिक्षा मिलती है। उसके जीवन में सचाई व ईमानदारी का विकास होता है। अहिंसा की आराधना के लिए सत्य की आराधना अनिवार्य है। झूठा व्यक्ति सही अर्थ में अहिंसक नहीं हो सकता। सच्चा अहिंसक कभी असत्य आचरण नहीं कर सकता। सत्य और अहिंसा का इतना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक के अभाव में दूसरे की आराधना अशक्य है। ये दोनों परस्पर पूरक तथा अन्योन्याश्रित हैं। अहिंसा यथार्थता को सुरूप प्रदान करती है जबकि यथार्थता अहिंसा की सुरक्षा करती है। अहिंसा के बिना सत्य नग्न अथवा कुरूप होता है जबकी सत्यरहित अहिंसा मरणोन्मुख अथवा अरक्षित होती है। जीवित रहते हुए मनुष्य हिंसा का पूर्ण त्याग नहीं कर सकता। खान-पान, हलन-चलन, श्वासोच्छ्वास आदि में होने वाली सूक्ष्म हिंसा को मानव दूर नही कर सकता। असत्य के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। मनुष्य असत्य को पूर्णरूप से

छोड़ सकता है।

गृहस्थ के लिए साधारणतया मृषावाद का सर्वथा त्याग अर्थात् सूक्ष्म असत्य का परित्याग शक्य नहीं होता। हाँ, वह स्थूल मृषावाद का त्याग अवश्य कर सकता है। इसीलिए श्रावक के लिए स्थूल प्राणातिपात-विरमण के विधान की भाँति स्थूल मृषावाद-विरमण का भी विधान किया गया है। स्थूल झूठ का त्याग भी साधारणतया स्थूल हिंसा के त्याग के ही समान दो करण व तीन योगपूर्वक होता है। स्थूल झूठ किसे समझना चाहिए? जिस झूठ से समाज में प्रतिष्ठा न रहे, साथियों में प्रामाणिकता न मानी जाय, लोगों में अप्रतीति हो, राजदण्ड का भागी होना पड़े उसे स्थूल झूठ समझना चाहिए। इस प्रकार के झूठ से मनुष्य का चतुर्मुखी पतन होता है। अनेक कारणों से मनुष्य स्थूल झूठ का प्रयोग करता है। उदाहरण के लिए अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाह के निमित्त सामने वाले पक्ष के सम्मुख झूठी प्रशंसा करना-करवाना, पशु-पक्षियों के क्रय-विक्रय के निमित्त मिथ्या प्रशंसा का आश्रय लेना, भूमि के सम्बन्ध में झूठ बोलना-बुलवाना, अन्य वस्तुओं के विषय में झूठ का प्रयोग करना, नौकरी आदि के लिए असत्य का आश्रय लेना, किसी की धरोहर आदि दबाकर विश्वासघात करना, झूठी गवाही देना-दिलाना, रिश्वत खाना-खिलाना, झूठे को सच्चा या सच्चे को झूठा सिद्ध करने का प्रयत्न करना आदि। श्रावक के इस प्रकार का झूठ बोलने-बुलवाने का मन, वचन व तन से त्याग होता है।

सावधानीपूर्वक स्थूल मृषावाद-विरमण व्रत का पालन करते हुए भी एतद्विषयक जिन अतिचारों—दोषों की संभावना रहती है वे प्रधानतया पांच प्रकार के हैं : १. सहसा-अभ्याख्यान, २. रहस्य-अभ्याख्यान, ३. स्वदार अथवा स्वपति-मंत्रभेद, ४. मृषा-उपदेश, ५. कूट-लेखकरण। बिना सोचे-समझे, बिना देखे-सुने किसी के विषय में कुछ धारणा बना लेना अथवा निर्णय दे देना, किसी पर मिथ्या कलंक लगाना, किसी के प्रति लोगों में गलत धारणा पैदा करना, सज्जन को दुर्जन, गुणी को अवगुणी, ज्ञानी को अज्ञानी कहना अदि सहसा-अभ्याख्यान अतिचार के अन्तर्गत हैं। किसी की गुह्य बात किसी के सामने प्रकट कर उसके साथ विश्वासघात करना रहस्य-अभ्याख्यान है। श्रावक को किसी की गोपनीय बात अन्य के सामने प्रकट कर किसी को धोखा नहीं देना चाहिए। पति-पत्नी का एक दूसरे की गुप्त बातों को किसी अन्य के सामने प्रकट करना स्वदार अथवा स्वपति-मंत्रभेद है। इससे कुटुम्ब में क्लेश पैदा होता है तथा बाहर बदनामी होती है। किसी को सच झूठ समझा कर कुमार्ग पर लेजाना मृषोपदेश है। झूठे लेख लिखना, झूठे दस्तावेज तैयार करना, झूठे हस्ताक्षर करना अथवा झूठा अगूंठा लगाना, झूठे बही-खाते तैयार करना, झूठे सिक्के बनाना अथवा चलाना आदि कूट-लेखकरण अतिचार के अन्तर्गत हैं। श्रावक को इन सबसे अथवा इस प्रकार के अन्य अतिचारों से बचना चाहिए। उसे सदा सावधान रह कर सत्य की आराधना करनी चाहिए। सावधानीपूर्वक व्रत की आराधना करने वाला व्यक्ति सहसा दोष का भागी नहीं बनता।

३. स्थूल अदत्तादान-विरमण—अहिंसा व सत्य के सम्यक् पालन के लिए अचौर्य अर्थात् अदत्तादान-विरमण आवश्यक है। श्रावक के लिए जिस प्रकार का अचौर्य अथवा अस्तेय आवश्यक माना गया है उसे स्थूल अदत्तादान-विरमण कहते हैं। साधु के लिए तो बिना अनुमति के दंतशोधनार्थ तृण उठाना भी वर्जित है अर्थात् वह बिना दी हुई कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करता। श्रावक के लिए ऐसा आवश्यक नहीं माना गया है। वह सूक्ष्म अदत्तादान का त्याग न भी करे तथापि उसे स्थूल अदत्तादान का त्याग तो करना ही पड़ता है। अदत्तादान का शब्दार्थ है बिना दी हुई वस्तु (अदत्त) का ग्रहण (आदान)। इसे सामान्य भाषा में चोरी कहते हैं। श्रावक के लिए ऐसी चोरी का त्याग अनिवार्य है जिससे राजदण्ड भोगना पड़े, समाज में अविश्वास उत्पन्न हो, प्रामाणिकता नष्ट हो, प्रतिष्ठा को धक्का लगे। श्रावक का इस प्रकार की चोरी का त्याग ही जैन आचार-शास्त्र में स्थूल अदत्तादान-विरमण व्रत के नाम से प्रसिद्ध है। स्थूल चोरी के कुछ उदाहरण ये हैं : किसी के घर आदि में सेंध लगाना, किसी की गाँठ काटना, किसी का ताला तोड़ना, किसी को लूटना, किसी की चीज बिना पूछे उठा कर रख लेना, किसी का गड़ा हुआ धन निकाल लेना, डाका डालना, ठगना, मिली हुई वस्तु का पता लगाने की कोशिश न करना अथवा पता लगने पर भी उसे न लौटाना, चौर्य बुद्धि से किसी की वस्तु उठा लेना अथवा अपने पास रख लेना आदि। आवश्यकता से अधिक संग्रह करना अथवा किसी वस्तु का अनुचित उपयोग करना भी

एक प्रकार की चोरी है जिसका सम्बन्ध परिग्रह-वृत्ति तथा अवि-वेक से है। श्रावक चोरी का त्याग भी साधारणतया दो करण व तीन योगपूर्वक ही करता है।

अदत्तादान-विरमण व्रत के मुख्य पांच अतिचार हैं: १. स्तेनाहृत, २. तस्करप्रयोग, ३. राज्यादिविरुद्ध कर्म, ४. कूट-तोल-कूटमान, ५. तत्प्रतिरूपक व्यवहार। अज्ञानवश यह समझ कर कि चोरी करने व कराने में पाप है किन्तु चुराई हुई वस्तु लेने में क्या हर्ज है, चोरी का माल लेना स्तेनाहृत अतिचार है। चोरी की वस्तु सस्ते भाव में मिला करती है जिससे लेने वाला लोभवश औचित्यानौचित्य का विचार नहीं करता। श्रावक को इस अतिचार से बचना चाहिए। चोरी का माल खरीदने से चोरी को प्रोत्साहन मिलता है। श्रावक को इस प्रकार का माल खरीद कर चोरी को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए—चोरी का निमित्त नहीं बनना चाहिए—चोरी नहीं करवानी चाहिए। चोरी करने की प्रेरणा देना, चोर को सहायता देना, तस्कर को शरण देना, शस्त्रास्त्र आदि द्वारा डाकुओं की मदद करना, लुटेरों का पक्ष लेना आदि क्रियाएँ तस्करप्रयोग के अन्तर्गत हैं। प्रजा के हित के लिए बने हुए राज्य आदि के नियमों को भंग करना राज्यादिविरुद्ध कर्म है। इस अतिचार के अन्तर्गत निम्नोक्त कार्यों का समावेश होता है: अवैधानिक व्यापार करना, कर चुराना, बिना अनुमति के परराज्य की सीमा में प्रवेश करना, निषिद्ध वस्तुएँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर अथवा एक देश से दूसरे देश में लाना-लेजाना, राज्यहित के विरुद्ध गुप्त कार्य करना,

स्वार्थवश राज्य के किसी भी कानून का भंग करना, समाज के किसी भी हितकर नियम की अवहेलना करना आदि। लेन-देन में न्यूनाधिकता का प्रयोग करना कूटतोल-कूटमान कहलाता है। इससे व्यक्ति की अप्रामाणिकता प्रकट होती है। प्रामाणिक व्यक्ति किसी के साथ विश्वासघात नहीं करता। वह किसी के अज्ञान अथवा विश्वास का अनुचित लाभ नहीं उठाता। लेन-देन में धूर्तता का प्रयोग कर कम-ज्यादा तोलना, नापना, गिनना सामनेवाले के साथ विश्वासघात करना है। वस्तुओं में मिलावट करना तत्प्रतिरूपक व्यवहार है। बहुमूल्य वस्तु में अल्पमूल्य वस्तु मिलाना, शुद्ध वस्तु में अशुद्ध वस्तु मिलाना, सुपथ्य वस्तु में कुपथ्य वस्तु मिलाना और इस प्रकार अनुचित लाभ उठाना श्रावक के लिए वर्जित है।

४. स्वदार-सन्तोष—अपनी भार्या के सिवाय शेष समस्त स्त्रियों के साथ मैथुनसेवन का मन, वचन व कायापूर्वक त्याग करना स्वदार-संतोष व्रत कहलाता है। जिस प्रकार श्रावक के लिए स्वदार-संतोष का विधान है उसी प्रकार श्राविका के लिए स्वपति-संतोष का नियम समझना चाहिए। अपने भर्ता के अतिरिक्त अन्य समस्त पुरुषों के साथ मन, वचन और कायापूर्वक मैथुनसेवन का त्याग करना स्वपति-संतोष कहलाता है। श्रावक के लिए स्वदार-संतोष एवं श्राविका के लिए स्वपति-संतोष अनिवार्य है। श्रमण-श्रमणी के लिए मैथुन का सर्वथा त्याग विहित है जबकि श्रावक-श्राविका के लिए मैथुन की मर्यादा निश्चित की गई है। स्थूल प्राणातिपात-विरमण

आदि की समकक्ष भाषा में इसे स्थूल मैथुन-विरमण कह सकते हैं। इसका पालन दो करण व तीन योगपूर्वक आवश्यक न माना जाकर साधारणतया एक करण व तीन योगपूर्वक ही जरूरी माना गया है। किसी भी व्रत के सम्यक् पालन के लिए शील अर्थात् सदाचार आवश्यक है। श्रावक पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं होता अपितु आंशिक ब्रह्मचारी होता है। उसकी शीलमर्यादा स्वदारसंतोष तक होती है। स्वदारसंतोष का अर्थ है समाज-सम्मत अथवा कानूनसम्मत विवाहपद्धति द्वारा पत्नीरूप से गृहीत स्त्री के साथ मैथुन-सेवन की मर्यादा। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि यह व्रत विवाहित व्यक्ति के लिए है न कि अविवाहित व्यक्ति के लिए। किसी का किसी कारण से चाहते हुए तथा विवाहयोग्य होते हुए भी विवाह अथवा पुनर्विवाह न हुआ हो तथा होने की संभावना भी न हो किन्तु वह मैथुन का सर्वथा त्याग न कर सकता हो तो उसके लिए स्थूल मैथुन-विरमण व्रत की क्या व्यवस्था है? दूसरे शब्दों में जो व्यक्ति स्वदारसंतोष की परिभाषा में नहीं आता उसके लिए चतुर्थ अणुव्रत का क्या रूप है? इसका कोई स्पष्ट समाधान अथवा विधान शास्त्रों में दृष्टिगोचर नहीं होता। स्थूल मैथुन-विरमण के पीछे जो विधेयात्मक भावना रही हुई है वह है मर्यादित मैथुन-सेवन की। इस दृष्टि से यदि ऐसा अपवादरूप व्यक्ति विवशता के कारण सार्वजनिक मर्यादा का ध्यान रखते हुए किसी विवाहेतर पद्धति से एक निश्चित सीमा बांधकर अपनी मैथुनेच्छा पूरी करता है तो क्या उसके स्थूल मैथुन-विरमण व्रत का भंग होता है?

क्या वह चतुर्थ अणुव्रतधारी नहीं हो सकता ? इस पर विचार करने की आवश्यकता है। जब श्रावक मैथुनसेवन की स्वदार-संतोषरूप मर्यादा निश्चित करता है तो उसमें परदारत्याग, वेश्यात्याग, कुमारिकात्याग आदि स्वतः आ जाता है। ऐसा होते हुए भी कई बार विषयवृत्ति की अधीनता के कारण वह जाने-अजाने ऐसी-ऐसी गलत गलियां निकालता है जिनसे व्रतभंग भी न हो और मैथुनेच्छा भी पूरी हो जाय। यही गलियां स्थूल मैथुन-विरमण व्रत के अतिचार हैं। ये दोषरूप होने के कारण त्याज्य हैं। इनका शास्त्रकारों ने अन्य व्रतों के अतिचारों की ही भाँति निम्नोक्त पाँच रूपों में प्रतिपादन किया है : इत्वरिक-परिगृहीता-गमन, अपरिगृहीता-गमन, अनंगक्रीडा, परविवाहकरण और कामभोग-तीव्राभिलाषा। जो स्त्रियाँ परदारकोटि में नहीं आतीं ऐसी स्त्रियों को धन आदि का लालच देकर कुछ समय तक अपनी बना लेना अर्थात् स्वदार-कोटि में ले आना तथा उनके साथ कामभोग का सेवन करना इत्वरिक-परिगृहीता-गमन कहलाता है। इत्वर अर्थात् अल्पकाल, परिग्रहण अर्थात् स्वीकार, गमन अर्थात् कामभोग-सेवन। इत्वरिक-परिगृहीता-गमन अर्थात् अल्पकाल के लिए स्वीकार की हुई स्त्री के साथ कामभोग का सेवन करना—कुछ समय के लिए रखी हुई किसी महिला के साथ मैथुनसेवन करना। जो स्त्री अपने लिए अपरिगृहीत अर्थात् अस्वीकृत है उसके साथ कामभोग का सेवन करना अपरिगृहीता-गमन है। इस प्रकार की स्त्रियों में निम्नोक्त स्त्रियों का समावेश होता है : जिसके साथ

सम्बन्ध निश्चित हो गया हो किन्तु विवाह न हुआ हो, जो अविवाहित कन्या के रूप में ही हो, जिसका पति मर गया हो, जो वेश्या का व्यवसाय करती हो, जो अपने पति द्वारा छोड़ दी गई हो अथवा जिसने अपने पति को छोड़ दिया हो, जिसका पति पागल हो गया हो, जो अपनी दासी अथवा नौकरानी के रूप में काम करती हो, इत्यादि। इन सब प्रकार की स्त्रियों के साथ स्वदारसंतोष, जिसका कि निषेधात्मक रूप परदारविवर्जन है, का पूरा अर्थ न समझने के कारण अथवा भूल से मैथुनसेवन का प्रसंग उपस्थित होना अपरिगृहीता-गमन अतिचार है। जिस-किसी स्त्री के साथ कामोत्तेजक क्रीड़ा करना, जिस-किसी स्त्री का कामोत्तेजक आलिंगन करना, हस्तकर्म आदि कुचेष्टाएं करना, कृत्रिम साधनों द्वारा कामाचार का सेवन करना आदि कामवर्धक प्रवृत्तियाँ अनंगक्रीडा के अन्तर्गत आती हैं। कन्यादान में पुण्य समझ कर अथवा रागादि के कारण दूसरों के लिए लड़के-लड़कियाँ ढूंढना, उनकी शादियाँ करना आदि कर्म परविवाहकरण अतिचार के अन्तर्गत हैं। कर्तव्यबुद्धि अथवा सहायताबुद्धि से वैसा करने में कोई दोष नहीं। स्वसन्तति के विवाह आदि का दायित्व तो स्वदारसंतोष से सम्बद्ध होने के कारण श्रावक पर स्वतः आ जाता है। अतएव अपने पुत्र-पुत्रियों की शादी आदि का समुचित प्रबन्ध करना श्रावक के चतुर्थ अणुव्रत स्वदार-सन्तोष की मर्यादा के ही अन्तर्गत है। पाँच इन्द्रियों में से चक्षु और श्रोत्र के विषय रूप और शब्द को काम कहते हैं क्योंकि इनसे कामना तो होती है किन्तु भोग नहीं होता। घ्राण, रसना व स्पर्शन के विषय

गंध, रस व स्पर्श भोगरूप हैं क्योंकि ये तीनों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के भोग से ही तृप्त होती हैं। इन कामरूप एवं भोगरूप विषयों में अत्यन्त आसक्ति रखना अर्थात् इनकी अत्यधिक आकांक्षा करना कामभोग-तीव्राभिलाषा अतिचार कहलाता है। वाजीकरण आदि के सेवन द्वारा अथवा कामशास्त्रोक्त प्रयोगों द्वारा मैथुनेच्छा को अधिकाधिक उद्दीप्त करना भी कामभोग-तीव्राभिलाषारूप अतिचार है। अपनी पत्नी के साथ अमर्यादित ढंग से मैथुन का सेवन करना भी कामभोग-तीव्राभिलाषा अतिचार ही कहलाता है क्योंकि इससे सन्तोषगुण का घात होता है तथा मन में सदा कामोत्तेजना बनी रहती है जो अपने आप के लिए तथा अपनी पत्नी के लिए दुःखदायी होती है। उपर्युक्त अतिचारों से सदाचार दूषित होता है। अतः श्रावक को इनसे बचना चाहिये। श्राविका के लिए स्वपति-सन्तोषरूप स्थूल मैथुन-विरमण व्रत का तथा तद्विषयक समस्त अतिचारों का आवश्यक परिवर्तन के साथ यथोचित शब्दों में संयोजन कर लेना चाहिए।

५ इच्छा-परिमाण—मनुष्य की इच्छा को आकाश के समान अनन्त कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि यदि इच्छा पर नियन्त्रण न किया जाय तो वह कदापि तृप्त नहीं हो सकती। इच्छातृप्ति का श्रेष्ठ उपाय है इच्छा-नियन्त्रण। गृहस्थाश्रम में रहते हुए इच्छाओं का सर्वथा त्याग संभव नहीं। हां, इच्छाओं की मर्यादा अवश्य बांधी जा सकती है। इसी इच्छामर्यादा अथवा इच्छानियन्त्रण का नाम है इच्छा-परिमाण। यह श्रावक का पांचवां अणुव्रत है। जब इच्छा परिमित हो जाती है तब तद्-

मूलक ममत्व तथा तज्जन्य संग्रह अथवा परिग्रह भी परिमित हो जाता है। परिणामतः श्रावक जो कुछ भी उपार्जन अथवा संग्रह करता है वह केवल आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही होता है। उससे वह संतोषपूर्वक अपनी तथा अपने आश्रितों की परिमित इच्छा की पूर्ति करता है। श्रावक की इस प्रकार की परिग्रह-परिमिति का ही दूसरा नाम स्थूल परिग्रह-विरमण है। मनुष्य को उतना ही संग्रह करना अथवा रखना चाहिये जितना कि उसके लिए अनिवार्य अथवा आवश्यक हो। अनावश्यक संग्रह से समाज में विषमता पैदा होती है। इस विषमता के कारण समाज अनेक प्रकार की बुराइयों को जन्म देता है। समाज में जो शोषणवृत्ति, पारस्परिक अविश्वास, ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट, दुःख-दारिद्रय, शोक-संताप, लूट-खसोट आदि देखने को मिलते हैं उनका प्रधान कारण परिग्रहवृत्ति, संग्रहखोरी अथवा संचयबुद्धि है। शोषक पूँजीवाद की जड़ भी यही है। दूषित साम्यवाद भी इसी पर आधारित है। परिग्रहवृत्ति की परिमितता से ही सरल एवं सच्चे समाजवाद की स्थापना हो सकती है। दंभरहित परिग्रह-परिमाण से ही यथार्थ सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा हो सकती है। इससे व्यक्ति के जीवन में सरलता, सादगी एवं सदाचरण की वृद्धि होती है तथा पारस्परिक विद्वेष एवं संघर्ष की कमी होती है। परिग्रह की परिमितता अहिंसक एवं सत्यनिष्ठ समाज के विकास के लिये अनिवार्य है। इसके बिना न अहिंसा की रक्षा हो सकती है, न सत्यादि की।

जैन शास्त्रकारों ने समस्त परिग्रह का निम्नोक्त नौ प्रकारों

में समावेश किया है : १. क्षेत्र, २. वस्तु, ३. हिरण्य, ४. सुवर्ण, ५. धन, ६. धान्य, ७. द्विपद, ८. चतुष्पद, ९. कुप्य। क्षेत्र अर्थात् खेत, बगीचा, चारागाह आदि। वस्तु अर्थात् मकान, दुकान, गोदाम आदि। हिरण्य अर्थात् चांदी के बर्तन, आभूषण तथा अन्य उपकरण। सुवर्ण अर्थात् सोने के बर्तन, आभूषण तथा अन्य उपकरण। रुपया-पैसा, रत्न-जवाहरात, क्रय-विक्रयरूप सोना-चाँदी, कल-कारखाने आदि धन के अन्तर्गत हैं। गेहूँ, जौ, चावल, उड़द, मूँग, तिल, अलसी, मटर आदि धान्य के अन्तर्गत हैं। दो पाँव वाले प्राणी यथा—स्त्री, पुरुष, तोता, मैना, कबूतर, मयूर आदि द्विपद में समाविष्ट होते हैं। चार पैर वाले प्राणी यथा—गाय बैल, भैंस, हाथी, घोड़ा, भेड़, बकरो आदि चतुष्पद में समाविष्ट होते हैं। सोने व चांदी की वस्तुओं के अतिरिक्त शेष समस्त वस्तुओं का समावेश कुप्य में होता है। ये वस्तुएँ मुख्यतः लोहा, ताँबा, पीतल, कांसा आदि धातुओं की बनी हुई होती हैं। जो वस्तुएं अपने उपयोग के लिए नहीं अपितु व्यापार के लिए होती हैं उनका समावेश धन में किया जाता है। गाड़ी, मोटर, साइ-कल बग्गी, तांगा, रथ, ठेला, ट्रक आदि वाहन स्वरूप तथा उप-योग की विविधता की दृष्टि से द्विपद, चतुष्पद, धन, कुप्य आदि में समाविष्ट होते हैं।

श्रमण के समान ममत्व–मूर्च्छा–गृद्धि–संग्रहवृत्ति का सर्वथा त्याग करना श्रावक के लिए शक्य नहीं। वह अंशतः परिग्रह-वृत्ति से मुक्त होता है अर्थात् देशतः परिग्रह का त्याग करता है। यह त्याग उसके इच्छा-परिमाण अर्थात् परिग्रह-परिमाण से फलित

होता है। इसीको अणुव्रत की परिभाषा में स्थूल परिग्रह-विरमण व्रत कहते हैं। इसके अनुसार श्रावक उपर्युक्त सब प्रकार की वस्तुओं में से अपने लिए आवश्यक वस्तुओं की मर्यादा निश्चित कर शेष समस्त वस्तुओं के ग्रहण एवं संग्रह का त्याग करता है। यही परिग्रह-त्याग का स्थूल रूप अथवा स्थूल परिग्रह-विरमण है। इसके मूल में इच्छा-परिमाण रहा हुआ है।

अन्य व्रतों की भाँति परिग्रहसम्बन्धी इस पंचम अणुव्रत के भी पांच अतिचार बतलाये गये हैं। इन अतिचारों का सम्बन्ध उपर्युक्त नौ प्रकार के पदार्थों से ही है। इन पदार्थों को अतिचारों की दृष्टि से पांच वर्गों में विभक्त किया गया है तथा स्वीकृत सीमा का उल्लंघन करने पर लगने वाले दोषों को अतिचारों के रूप में इन्हीं के नामों से सम्बद्ध किया गया है। ये अतिचार इस प्रकार हैं: १. क्षेत्रवास्तु-परिमाण-अतिक्रमण, २. हिरण्यसुवर्ण-परिमाण-अतिक्रमण, ३. धनधान्य-परिमाण-अतिक्रमण, ४. द्विपदचतुष्पद-परिमाण-अतिक्रमण, ५. कुप्य-परिमाण-अतिक्रमण। मर्यादा से अधिक परिग्रह की प्राप्ति होने पर उसका दानादि सत्कार्यों में उपयोग कर लेना चाहिए। इससे परिग्रह-परिमाण व्रत की आसानी से रक्षा हो सकती है तथा समाजहित के कार्यों को आवश्यक प्रोत्साहन मिल सकता है।

गुणव्रत :

अणुव्रतों की रक्षा तथा विकास के लिए जैन आचारशास्त्र में गुणव्रतों की व्यवस्था की गई है। गुणव्रत तीन हैं: १. दिशा-

परिमाण व्रत, २. उपभोगपरिभोग-परिमाण व्रत, ३. अनर्थदण्ड-विरमणव्रत। इन्हें गुणव्रत इसलिए कहा गया है कि इनसे अणुव्रत रूप मूलगुणों की रक्षा तथा विकास होता है। अथवा अणुव्रतों की भावनाओं के रूप में अथवा उन भावनाओं की दृढ़ता के लिए जिन विशेष गुणों की आवश्यकता रहती है उन्हें गुणव्रत कहा जाता है। इनकी उपस्थिति में अणुव्रतों की रक्षा विशेष सरलता से हो सकती है।

१. दिशा-परिमाण—अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार व्यवसायादि प्रवृत्तियों के निमित्त दिशाओं की मर्यादा निश्चित करना दिशा-परिमाण व्रत है। इस गुणव्रत से परिग्रह-परिमाणरूप पाँचवें अणुव्रत की रक्षा होती है। दिशाओं की मर्यादा निश्चित हो जाने पर तृष्णा पर स्वतः नियन्त्रण हो जाता है। तृष्णा पर नियन्त्रण होने पर संग्रह की भावना पर प्रतिबन्ध लगने में कोई देर नहीं लगती। इस प्रकार इच्छा-परिमाण अथवा परिग्रह-परिमाणरूप पंचम अणुव्रत की दृढ़ता के लिए दिशा-परिमाणरूप गुणव्रत आवश्यक है। दूसरे शब्दों में दिशा-परिमाण व्रत, इच्छा-परिमाण व्रत की ही एक भावना अथवा गुणविशेष है जिससे परिग्रह-नियन्त्रण में सहायता मिलती है।

दिशा-परिमाण व्रत के निम्नोक्त पाँच अतिचार हैं: १. ऊर्ध्व-दिशा-परिणाम-अतिक्रमण, २. अधोदिशा-परिमाण-अतिक्रमण, ३. तिर्यग्दिशा-परिमाण-अतिक्रमण, ४. क्षेत्रवृद्धि, ५. स्मृत्यन्तर्धा। प्रमादवश अथवा अज्ञान के कारण ऊँची दिशा के निश्चित परिमाण का उल्लंघन करने पर लगने वाले दोष का नाम ऊर्ध्व-

दिशा-परिमाण-अतिक्रमण है। नीची दिशा के परिमाण का उल्लंघन करने पर जो दोष लगता है उसे अधोदिशा-परिमाण-अतिक्रमण कहते हैं। ऊँची व नीची दिशाओं के अतिरिक्त पूर्वादि समस्त दिशाओं के परिमाण का उल्लंघन करना तिर्यग्दिशा-परिमाण-अतिक्रमण है। एक दिशा के परिमाण का अमुक अंश दूसरी दिशा के परिमाण में मिला देना व इस प्रकार मनमाने ढंग से क्षेत्र की मर्यादा बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि अतिचार है। सीमा का स्मरण न रहने पर लगने वाले दोष अर्थात् अतिचार का नाम स्मृत्यन्तर्धा है। 'मैंने सौ योजन की मर्यादा का व्रत ग्रहण किया है या पचास योजन की मर्यादा का' इस प्रकार का सन्देह होने पर अथवा स्मरण न होने पर पचास योजन से आगे न जाना ही अनुमत है, चाहे वास्तव में मर्यादा सौ योजन की ही क्यों न हो। यदि अज्ञान अथवा विस्मृति से क्षेत्र के परिमाण का उल्लंघन हुआ हो तो वापिस लौट आना चाहिए, मालूम होने पर आगे न जाना चाहिए, न किसी को भेजना ही चाहिए। वैसे ही कोई गया हो तो उसके द्वारा प्राप्त वस्तु का उपयोग भी नहीं करना चाहिए। विस्मृति के कारण खुद गया हो व कोई वस्तु प्राप्त हुई हो तो उसका भी त्याग कर देना चाहिए।

२. उपभोगपरिभोग-परिमाण—जो वस्तु एक बार उपयोग में आती है उसे उपभोग कहते हैं। बार-बार काम में आने वाली वस्तु को परिभोग कहा जाता है। उपभोग एवं परिभोग की मर्यादा निश्चित करना उपभोगपरिभोग-परिमाण व्रत है। इस व्रत से अहिंसा एवं संतोष की रक्षा होती है। इससे जीवन में

सरलता एवं सादगी आती है तथा व्यक्ति को महारम्भ, महापरिग्रह तथा महातृष्णा से मुक्ति मिलती है। शास्त्रकारों ने उपभोग परिभोग सम्बन्धी २६ प्रकार की वस्तुओं की गिनती की है। श्रावक को इन वस्तुओं की तथा इनके अतिरिक्त और भी जितनी वस्तुएँ उसके काम में आती हों उन सबकी मर्यादा निश्चित कर लेनी चाहिए जिससे उसके जीवन में हमेशा शान्ति एवं सन्तोष विद्यमान रहे। मर्यादा निश्चित करने में विवेक का विशेष उपयोग करना चाहिए। जिनमें अधिक हिंसा और प्रपंच की सम्भावना हो उन पदार्थों का त्याग करना चाहिए तथा अल्पारम्भ व अल्प प्रपंचयुक्त वस्तुओं का मर्यादापूर्वक सेवन करना चाहिए। उपभोग-परिभोगसम्बन्धी वस्तुओं के २६ प्रकार ये हैं: १. शरीर आदि पोंछने का अंगोछा आदि, २. दाँत साफ करने का मंजन आदि, ३. फल, ४. मालिश के लिए तेल आदि, ५. उबटन के लिए लेप आदि, ६. स्नान के लिए जल, ७. पहनने के वस्त्र, ८. विलेपन के लिए चन्दन आदि, ९. फूल, १०. आभरण, ११. धूप-दीप, १२. पेय, १३. पक्वान्न, १४. ओदन, १५. सूप अर्थात् दाल, १६. घृत आदि विगय, १७. शाक, १८. माधुरक अर्थात् मेवा, १९. जेमन अर्थात् भोजन के पदार्थ, २०. पीने का पानी, २१. मुखवास, २२. वाहन, २३. उपानत् अर्थात् जूता, २४. शय्यासन, २५. सचित्त वस्तु, २६ खाने के अन्य पदार्थ।

उपभोगपरिभोग-परिमाण व्रत के भी पांच प्रधान अतिचार हैं: १. सचित्ताहार, २. सचित्त-प्रतिबद्धाहार, ३. अपक्वाहार, ४. दुष्पक्वाहार, ५. तुच्छौषधिभक्षण। ये अतिचार भोजन-

सम्बन्धी हैं। जो सचित वस्तु मर्यादा के अन्दर नहीं है उसका भूल से आहार करने पर सचित्ताहार दोष लगता है। त्यक्त सचित्त वस्तु से संसक्त अर्थात् लगी हुई अचित्त वस्तु का आहार करने पर सचित्त-प्रतिबद्धाहार दोष लगता है जैसे वृक्ष से लगा हुआ गोंद, गुठलीसहित आम, पिण्डखजूर आदि खाना। सचित्त वस्तु का त्याग होने पर बिना अग्नि के पके आहार का सेवन करने पर अपक्वाहार दोष लगता है। अथवा हरे अर्थात् कच्चे शाक, फल आदि का त्याग होने पर बिना पके फल आदि का सेवन करने पर अपक्वाहार अतिचार लगता है। इसी प्रकार अर्धपक्व आहार का सेवन करने पर दुष्पक्वाहार दोष लगता है। जो वस्तु खाने में कम आए तथा फेंकने में अधिक जाए अर्थात् खाने के लिये ठीक तरह से तैयार न हुई हो ऐसी वस्तु का सेवन करने पर तुच्छौषधिभक्षण अतिचार लगता है।। उपभोगपरिभोग-परिमाण व्रत के आराधक को इन अतिचारों से बचना चाहिए। अतिचार-सेवन का प्रसंग उपस्थित होने पर आलोचना एवं प्रतिक्रमण रूप पश्चात्ताप अर्थात् प्रायश्चित्त करना चाहिए।

उपभोग एवं परिभोग की वस्तुओं की प्राप्ति के लिए किसी न किसी प्रकार का कर्म अर्थात् व्यापार - व्यवसाय—उद्योग—धन्धा करना ही पड़ता है। जिस व्यवसाय में महारम्भ होता हो—स्थूल हिंसा होती हो—अधिक पाप होता हो वह व्यवसाय श्रावक के लिए निषिद्ध है। इस प्रकार के व्यवसायों से महान् अशुभ कर्मों का उपार्जन होता है अतः इन्हें शास्त्रकारों ने कर्मादान

कहा है। उपासकदशांग में निम्नलिखित १५ कर्मादान श्रावक के लिए वर्जित किये गये हैं : १. अंगारकर्म, २. वनकर्म: ३. शकटकर्म, ४. भाटककर्म, ५. स्फोटककर्म, ६. दंतवाणिज्य, ७. लाक्षावाणिज्य, ८. रसवाणिज्य, ९. केशवाणिज्य, १०. विष-वाणिज्य, ११. यन्त्रपीडनकर्म, १२. निर्लांछनकर्म, १३. दावाग्नि-दानकर्म, १४. सरोह्रदतडागशोषणताकर्म, १५. असती-जनपोषणताकर्म। अंगारकर्म अर्थात् अग्नि-सम्बन्धी व्यापार जैसे—कोयले बनाना, ईंटें पकाना आदि। वनकर्म अर्थात् वनस्पति-सम्बन्धी व्यापार जैसे—वृक्ष काटना, घास काटना आदि। शकट-कर्म अर्थात् वाहनसम्बन्धी व्यापार जैसे—गाड़ी, मोटर, तांगा, रिक्शा वगैरह बनाना आदि। भाटककर्म अर्थात् वाहन किराये पर देना आदि। स्फोटककर्म अर्थात् भूमि फोड़ने का व्यापार जैसे—खानें खुदवाना, नहरें बनवाना, मकान बनाने का व्यवसाय करना आदि। दंतवाणिज्य अर्थात् हाथीदाँत आदि का व्यापार। लाक्षावाणिज्य अर्थात् लाख आदि का व्यापार। रस-वाणिज्य अर्थात् मदिरा आदि का व्यापार। केशवाणिज्य अर्थात् बालों व बालवाले प्राणियों का व्यापार। विषवाणिज्य अर्थात् जहरीली वस्तुओं तथा हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार। यन्त्र-पीडनकर्म अर्थात् मशीन चलाने आदि का धन्धा। निर्लांछनकर्म अर्थात् प्राणियों के अवयवों को छेदने, काटने आदि का व्यवसाय। दावाग्निदानकर्म अर्थात् जंगल, खेत आदि में आग लगाने का कार्य। सरोह्रदतडागशोषणताकर्म अर्थात् सरोवर, झील, तालाब आदि को सुखाने का कार्य। असतीजनपोषणताकर्म अर्थात् कुलटा

स्त्रियों के पोषण, हिंसक प्राणियों के पालन, समाजविरोधी तत्त्वों के संरक्षण आदि का कार्य। श्रावक के लिए इन सब प्रकार के व्यवसायों व इनसे मिलते-जुलते अन्य प्रकार के कार्यों का निषेध इसलिए किया गया है कि इनके गर्भ में महती हिंसा रही हुई है। इस प्रकार के हिंसापूर्ण कृत्यों से करुणासम्पन्न श्रावक अपनी आजीविका कैसे चला सकता है! इन सब व्यवसायों का त्याग करने पर गृहस्थ का जीवन कितना सरल, सादगीपूर्ण एवं सात्त्विक हो जाता है, इसकी कल्पना करना आज के युग के मनुष्य के लिए अति कठिन है। उसके लिए कुछ ही ऐसे लघु उद्योग एवं छोटे-मोटे सात्त्विक व्यवसाय रह जाते हैं जिनके द्वारा वह बिना किसी आडम्बर के सीधा-सादा जीवन जी सकता है। उसका जीवन कितना पवित्र एवं प्रेरणाप्रद होगा, यह गाँधीजी के जीवन की एक झलक से समझा जा सकता है। गाँधीजी की अहिंसक समाज की कल्पना कुछ-कुछ इसी ढंग की है। उपर्युक्त १५ कर्मादानों में से कुछ कर्म ऐसे भी हैं जिन्हें यदि विवेकपूर्वक एवं विशिष्ट साधनों की सहायता से किया जाय तो स्थूल हिंसा का उपार्जन नहीं होता। व्यवसाय कोई भी हो, यदि उसमें दो बातें दृष्टिगोचर हों तो वह श्रावक के लिए आचरणीय है। पहली बात यह है कि उसमें स्थूल हिंसा अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा न होती हो अथवा कम-से-कम होती हो। दूसरी बात यह है कि उसके द्वारा किसी व्यक्ति वर्ग अथवा समाज का शोषण न होता हो अथवा कम-से-कम होता हो। इस प्रकार का शोषण प्रत्यक्षतः हिंसा भले ही न हो किन्तु परोक्षतः हिंसा ही है। इस प्रकार की हिंसा कभी-कभी साधारण

स्थूल हिंसा से भी भारी हो जाती है। कौनसा व्यवसाय श्रावक के करने योग्य है और कौनसा करने योग्य नहीं, इसका निर्णय मुख्यतः इन दो दृष्टियों से ही करना चाहिए।

३. अनर्थदण्ड-विरमण—अपने अथवा अपने कुटुम्ब के जीवन-निर्वाह के निमित्त होने वाले अनिवार्य सावद्य अर्थात् हिंसापूर्ण व्यापार-व्यवसाय के अतिरिक्त समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होना अनर्थदण्ड-विरमण व्रत है। इस गुणव्रत से प्रधानतया अहिंसा एवं अपरिग्रह का पोषण होता है। अनर्थदण्ड-विरमण व्रतधारी श्रावक निरर्थक किसी की हिंसा नहीं करता और न निरर्थक वस्तु का संग्रह ही करता है क्योंकि इस प्रकार के संग्रह से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। अनर्थदण्ड अर्थात् निरर्थक पापपूर्ण प्रवृत्तियाँ चार प्रकार की बताई गई हैं : अपध्यानाचरण, प्रमादाचरण, हिंसाप्रदान और पापकर्मोपदेश। अपध्यान अर्थात् कुध्यान। ध्यान के चार प्रकार हैं : आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान व शुक्लध्यान। इनमें से प्रथम दो ध्यान अशुभ ध्यान—कुध्यान हैं तथा बाद के दो ध्यान शुभ ध्यान—सुध्यान। आर्तध्यान चार प्रकार का है : इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, रोगचिन्ता और निदान। प्रिय वस्तु अथवा व्यक्ति का वियोग होने पर उसके संयोग के लिये शोकाकुल रहना इष्टवियोग-आर्तध्यान है। अप्रिय वस्तु अथवा व्यक्ति का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए व्याकुल रहना अनिष्टसंयोग–आर्तध्यान है। शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ा दूर करने की व्याकुलता को रोगचिन्ता-आर्तध्यान कहते हैं। अप्राप्त विषयों

को प्राप्त करने की कामना से तीव्र संकल्प करना निदान-आर्त-ध्यान है। रौद्रध्यान अर्थात् क्रूरतापूर्ण चिन्तन। जिसका मन क्रूर होता है वह रुद्र कहलाता है। रुद्र व्यक्ति का ध्यान रौद्रध्यान है। हिंसा, असत्य, चोरी आदि से सम्बन्धित चिन्तन रौद्रध्यान के अन्तर्गत है क्योंकि उसमें क्रोध, ईर्ष्या, कपट, लोभ, अहंकार आदि क्रूर वृत्तियों की विद्यमानता होती है। आर्तध्यान व रौद्रध्यान का सेवन ही अपध्यानाचरण है। प्रमादाचरण अर्थात् आलस्य का सेवन। शुभ प्रवृत्ति में आलस्य रखना अर्थात् शुभ प्रवृत्ति करना ही नहीं अथवा असावधानीपूर्वक शुभ प्रवृत्ति करना प्रमादाचरण है। इसका विधेयात्मक रूप अशुभ कार्यों में उद्यमशील रहना है। हिंसाप्रदान का अर्थ है किसी को हिंसक साधन जैसे—अस्त्र-शस्त्र, विष आदि देकर हिंसक कृत्यों में सहायक होना। जिस उपदेश से सुनने वाला पापकर्म में प्रवृत्त हो वैसा उपदेश देना पापकर्मोपदेश कहलाता है। जैसे हिंसा से विरत व्यक्ति किसी को हिंसक साधन देकर हिंसक कृत्यों में सहायक नहीं होता उसी प्रकार पापकर्म से निवृत्त व्यक्ति किसी को पापकर्म का उपदेश देकर पापपूर्ण कृत्यों में सहायक नहीं बनता। इस प्रकार अपध्यानाचरण, प्रमादाचरण, हिंसाप्रदान व पापकर्मोपदेश तथा इसी प्रकार की अन्य निरर्थक पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होना अनर्थदण्ड-विरमणव्रती के लिए आवश्यक है। अन्य व्रतों की भांति अनर्थदण्ड-विरमण व्रत के भी पाँच प्रधान अतिचार हैं : १. कन्दर्प, २. कौत्कुच्य, ३. मौखर्य, ४. संयुक्ताधिकरण, ५. उपभोगपरिभोगातिरिक्त। विकारवर्धक

वचन बोलना या सुनना कन्दर्प है। विकारवर्धक चेष्टाएँ करना या देखना कौत्कुच्य है। असम्बद्ध एवं अनावश्यक वचन बोलना मौखर्य है। जिन उपकरणों के संयोग से हिंसा की संभावना बढ़ जाती हो उन्हें संयुक्त कर रखना संयुक्ताधिकरण है। उदाहरण के लिए बन्दूक के साथ कारतूस, धनुष के साथ तीर संयुक्त कर रखना। आवश्यकता से अधिक उपभोग एवं परिभोग की सामग्री संग्रह करना उपभोगपरिभोगातिरिक्त है। ये सब अतिचार निरर्थक हिंसा का पोषण करने वाले हैं अतः श्रमणोपासक को इनसे बचना चाहिये।

शिक्षाव्रत :

शिक्षा का अर्थ है अभ्यास। जिस प्रकार विद्यार्थी पुनः-पुनः विद्या का अभ्यास करता है उसी प्रकार श्रावक को कुछ व्रतों का पुनः-पुनः अभ्यास करना पड़ता है। इसी अभ्यास के कारण इन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा गया है। अणुव्रत एवं गुण-व्रत एक ही बार ग्रहण किये जाते हैं जबकि शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में अणुव्रत एवं गुणव्रत जीवन-भर के लिये होते हैं जबकि शिक्षाव्रत अमुक समय के लिए ही होते हैं। शिक्षाव्रत चार हैं : १. सामायिक व्रत, २. देशाव-काशिक व्रत, ३. पौषधोपवास व्रत, ४. अतिथिसंविभाग व्रत।

१. सामायिक—'सामायिक' पद के मूल में 'समाय' शब्द है। समाय शब्द 'सम' और 'आय' के संयोग से बनता है। सम का अर्थ है समता अथवा समभाव और आय का अर्थ है लाभ अथवा प्राप्ति। इन दोनों अर्थों को मिलाने से समाय का अर्थ होता है

समभाव का लाभ अथवा समता की प्राप्ति । समायसम्बन्धी भाव अथवा क्रिया को सामायिक कहते हैं । इस प्रकार सामयिक आत्मा का वह भाव अथवा शरीर की वह क्रियाविशेष है जिससे मनुष्य को समभाव की प्राप्ति होती है। दूसरे शब्दों में जो त्रस और स्थावर सभी जीवों के प्रति समभाव रखता है वह सामायिक का आराधक होता है । सामायिक के लिए मानसिक स्वस्थता और शारीरिक शुद्धि दोनों आवश्यक हैं । शरीर स्वस्थ, शुद्ध एवं स्थिर हो किन्तु मन अस्वस्थ, अशुद्ध एवं अस्थिर हो तो सामायिक की साधना नहीं की जा सकती । इसी प्रकार मन स्वस्थ, शुद्ध तथा स्थिर हो किन्तु शारीरिक स्वस्थता, शुद्धता तथा स्थिरता का अभाव हो तो भी सामायिक की निर्विघ्न आराधना नहीं की जा सकती । सामायिक करने वाले के मन, वचन और कर्म तीनों पवित्र होते हैं । मन, वचन और कर्म में सावद्यता अर्थात् दोष न रहे, यही सामायिक का प्रयोजन होता है । इसीलिए सामायिक में सावद्य योग अर्थात् दोषयुक्त प्रवृत्ति का त्याग एवं निरवद्य योग अर्थात् दोषरहित प्रवृत्ति का आचरण करना पड़ता है । अमुक समय तक सामायिक व्रत ग्रहण करने वाला व्यक्ति क्रमशः अपने सम्पूर्ण जीवन में समता का विकास करता है । धीरे-धीरे समभाव का अभ्यास करते-करते वह पूरे जीवन को समतामय बनाता है । जब तक समता जीवन-व्यापी नहीं हो जाती तब तक उसका अभ्यास चलता रहता है । सामायिक व्रत का यथार्थ आराधन यही है। यही सामायिक का सार है ।

निम्नलिखित पाँच अतिचारों से सामायिक व्रत दूषित होता है : १. मनोदुष्प्रणिधान, २. वाग्दुष्प्रणिधान, ३. कायदुष्प्रणिधान, ४. स्मृत्यकरण, ५. अनवस्थितकरण। मनसे सावद्य भावों का अनुचिन्तन करना मनोदुष्प्रणिधान है। वाणी से सावद्य वचन बोलना वाग्दुष्प्रणिधान है। शरीर से सावद्य क्रिया करना कायदुष्प्रणिधान है। सामायिक की स्मृति न रखना अर्थात् सामायिक करनी है या नहीं, सामायिक की है या नहीं, सामायिक पूरी हुई है या नहीं—इत्यादि विषयक स्मृति न होना स्मृत्यकरण है। यथावस्थित सामायिक न करना, समय पूरा हुए बिना ही सामायिक पूरी कर लेना अनवस्थितकरण है।

२. देशावकाशिक—दिशापरिमाण व्रत में जीवनभर के लिए मर्यादित दिशाओं के परिमाण में कुछ घंटों अथवा दिनों के लिए विशेष मर्यादा निश्चित करना अर्थात् विशेष कमी करना देशावकाशिक व्रत है। देश अर्थात् क्षेत्र का एक अंश और अवकाश अर्थात् स्थान। चूँकि इस व्रत में जीवनपर्यन्त के लिए गृहीत दिशापरिमाण अर्थात् क्षेत्रमर्यादा के एक अंशरूप स्थान की कुछ समय के लिए विशेष सीमा निर्धारित की जाती है इसलिए इसे देशावकाशिक व्रत कहते हैं। यह व्रत क्षेत्रमर्यादा को संकुचित करने के साथ ही उपलक्षण से उपभोग-परिभोगादिरूप अन्य मर्यादाओं को भी संकुचित करता है। मर्यादित क्षेत्र से बाहर न जाना, बाहर से किसी को न बुलाना, न बाहर किसी को भेजना और न बाहर से कोई वस्तु मँगवाना, बाहर क्रय-विक्रय न करना आदि प्रस्तुत व्रत के लक्षण हैं।

देशावकाशिक व्रत के निम्नोक्त पाँच अतिचार हैं :१. आनयनप्रयोग, २. प्रेषणप्रयोग, ३. शब्दानुपात, ४. रूपानुपात, ५. पुद्गलप्रक्षेप। मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु लाना, मंगवाना आदि आनयनप्रयोग है। मर्यादित क्षेत्र के बाहर वस्तु भेजना, लेजाना आदि प्रेषणप्रयोग है। किसी को निर्धारित क्षेत्र से बाहर खड़ा देख कर खाँसी आदि शब्दसंकेतों द्वारा उसे बुलाने आदि की चेष्टा करना शब्दानुपात है। सीमित क्षेत्र से बाहर रहे हुए लोगों को बुलाने आदि की चेष्टा से हाथ, मुँह, सिर आदि का इशारा करना अर्थात् रूपसंकेतों का प्रयोग करना रूपानुपात है। मर्यादित क्षेत्र से बाहर रहे हुए व्यक्ति को अपना अभिप्राय जताने के लिए कंकड़, कागज आदि कुछ फेंकना पुद्गलप्रक्षेप है।

३. पौषधोपवास—विशेष नियमपूर्वक उपवास करना अर्थात् आत्मचिन्तन के निमित्त सर्व सावद्यक्रिया का त्याग कर शान्तिपूर्ण स्थान से बैठ कर उपवासपूर्वक नियत समय व्यतीत करना पौषधोपवास है। इस व्रत में उपवास का मुख्य प्रयोजन आत्मतत्त्व का पोषण होता है अतः इसे पौषधोपवास व्रत कहते हैं। आत्मपोषण के निमित्त पौषधोपवास को अंगीकार करने वाला श्रावक भौतिक प्रलोभनों से दूर रहता है, भौतिक आपत्तियों से व्याकुल अथवा विचलित भी नहीं होता। इस व्रत में स्थित साधक श्रमणवत् साधनारत होता है। वह आहार के परित्याग के साथ ही साथ उपलक्षण से शरीरसत्कार अर्थात् शारीरिक शृंगार, अब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन एवं सावद्य व्यापार अर्थात् हिंसक क्रिया का भी त्याग करता है।

पोषधोपवास व्रत के निम्नोक्त पांच अतिचार हैं : १. अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तारक, २. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक, ३. अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रस्रवणभूमि, ४. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रस्रवणभूमि, ५. पौषधोपवास–सम्यगननुपालनता। शय्या अर्थात् वसति–मकान और संस्तारक अर्थात् बिछौना–कंबलादि का प्रतिलेखन अर्थात् प्रत्यवेक्षण–निरीक्षण बिलकुल न करना अथवा ठीक ढंग से न करना अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तारक अतिचार है। शय्या व संस्तारक को प्रमार्जित किये बिना अर्थात् पोंछे बिना–साफ किये बिना अथवा बिना अच्छी तरह साफ किये काम में लेना अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक अतिचार है। इसी प्रकार मल-मूत्र की भूमि का बिना देखे अथवा अच्छी तरह न देखकर उपयोग करना अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रस्रवणभूमि अतिचार है तथा साफ किये बिना अथवा बिना अच्छी तरह साफ किए उपयोग करना अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रस्रवणभूमि अतिचार है। पौषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन न करना अर्थात् आत्मपोषक तत्त्वों का भलीभाँति सेवन न करना पौषधोपवास-सम्यगननुपालनता अतिचार है। इन सब अतिचारों से दूर रहने वाला श्रावक पौषधोपवास व्रत की यथार्थ आराधना कर सकता है। प्रथम चार अतिचारों में अनिरीक्षण अथवा दुर्निरीक्षण एवं अप्रमार्जन अथवा कुप्रमार्जन के कारण हिंसादोष की संभावना रहती है—जीवजन्तु का हनन होने की शक्यता रहती है।

४. अतिथिसंविभाग—यथासंविभाग अथवा अतिथिसंविभाग

चतुर्थ शिक्षाव्रत है। यह श्रावक का बारहवाँ अर्थात् अंतिम व्रत है। यथासिद्ध अर्थात् अपने निमित्त बनाई हुई अपने अधिकार की वस्तु का अतिथि के लिए समुचित विभाग करना यथासंविभाग अथवा अतिथिसंविभाग कहलाता है। जैसे श्रावक अपनी आय को अपने तथा अपने कुटुम्ब के लिए व्यय करना अपना कर्तव्य समझता है वैसे ही वह अतिथि आदि के निमित्त अपनी आय का अमुक भाग सहजतया व्यय करना भी अपना कर्तव्य मानता है। यह कार्य वह किसी स्वार्थ के कारण नहीं करता अपितु विशुद्ध परमार्थ की भावना से करता है। इसीलिए उसका यह त्याग उत्कृष्ट कोटि में आता है। जिसके आने-जाने की कोई तिथि अर्थात् दिन निश्चित न हो उसे अतिथि कहते हैं। जो घूमता-फिरता कभी भी कहीं पहुँच जाय वह अतिथि है। उसका कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं होता, जाने-आने के निश्चित स्थान नहीं होते। इतना ही नहीं, उसका भोजन आदि ग्रहण करने का भी कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं होता। उसे जहाँ जिस समय जैसी भी उपयुक्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है वहाँ उस समय उसी से सन्तोष प्राप्त हो जाता है। निर्ग्रन्थ श्रमण को इसी प्रकार का अतिथि कहा गया है। आध्यात्मिक साधना के लिए जिसने गृहवास का त्याग कर अनगारधर्म स्वीकार किया है उस श्रमणशील पदयात्री निर्ग्रन्थ श्रमण भिक्षुक को न्यायोपार्जित निर्दोष वस्तुओं का निःस्वार्थभाव से श्रद्धापूर्वक दान देना उत्कृष्ट कोटि का अतिथिसंविभाग व्रत है। संयमी एवं साधक पुरुषों को आवश्यक वस्तुओं का दान देने से पवित्र जीवन का अनुमोदन होता है—

आध्यात्मिक साधना का पोषण होता है। इससे दाता का जीवन भी उपयुक्त दिशा में विकसित होता है। जिस प्रकार निर्ग्रन्थ अतिथि को दान देना श्रमणोपासक का कर्तव्य है उसी प्रकार निःस्वार्थभाव से अन्य अतिथियों अथवा व्यक्तियों की समुचित मदद करना, दीन-दुःखियों को यथोचित सहायता करना भी श्रावक का धर्म है। इससे करुणावृत्ति का पोषण होता है जो अहिंसाधर्म के उपयुक्त विकास एवं प्रसार के लिए आवश्यक है।

अतिथिसंविभाग व्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार बताये गये हैं जो मुख्यतया आहार से सम्बन्धित हैं : १. सचित्त-निक्षेप, २. सचित्तपिधान, ३. कालातिक्रम, ४. परव्यपदेश, ५. मात्सर्य। न देने की भावना से अर्थात् कपटपूर्वक साधु को देने योग्य आहारादि को सचित्त—सचेतन वनस्पति आदि पर रखना सचित्तनिक्षेप है क्योंकि निर्ग्रन्थ श्रमण ऐसा आहारादि ग्रहण नहीं करते। इसी प्रकार आहारादि को सचित्त वस्तु से ढकना सचित्तपिधान है। अतिथि को कुछ न देना पड़े, इस भावना से अर्थात् कपटपूर्वक भिक्षा के उचित समय से पूर्व अथवा पश्चात् भिक्षुक से आहारादि ग्रहण करने की प्रार्थना करना कालातिक्रम अतिचार है। न देने की भावना से अपनी वस्तु को परायी कहना अथवा परायी वस्तु देकर अपनी वस्तु बचा लेना अथवा अपनी वस्तु स्वयं न देकर दूसरे से दिलवाना पर-व्यपदेश है। सहजभाव से अर्थात् श्रद्धापूर्वक दान न देते हुए दूसरे के दानगुण की ईर्ष्या से दान देना मात्सर्य अतिचार है।

सल्लेखना अथवा संथारा :

जीवन के अन्तिम समय में अर्थात् मृत्यु आने के समय तप-

विशेष की आराधना करना सल्लेखना कहलाता है। इसे शास्त्रीय परिभाषा में अपश्चिम-मारणान्तिक-सल्लेखना कहते हैं। अपश्चिम का अर्थ है जिसके पीछे कोई दूसरा नहीं है अर्थात् सबसे अन्तिम। मारणान्तिक का अर्थ है मृत्युरूप अन्त में होने वाली। सल्लेखना का अर्थ है जिसके द्वारा कषायादि कृश हों वैसी सम्यक् आलोचनायुक्त तपस्या। इस प्रकार अपश्चिम-मारणान्तिक-सल्लेखना का अर्थ होता है मरणान्त के समय अपने भूतकालीन समस्त कृत्यों की सम्यक् आलोचना करके शरीर व कषायादि को कृश करने के निमित्त की जानेवाली सबसे अन्तिम तपस्या। इसका सीधे शब्दों में अर्थ होता है अन्तिम समय में आहारादि का त्याग कर (पहले अन्न व बाद में जल अथवा दोनों एक साथ छोड़कर) समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त करना। इस दृष्टि से सल्लेखना प्राणान्त अनशन है। सल्लेखनापूर्वक होने वाली मृत्यु को जैन आचार-शास्त्र में समाधिमरण व पण्डितमरण कहा गया है। इसे संथारा भी कहा जाता है। समाधिमरण व पंडितमरण का अर्थ होता है स्वस्थ चित्तपूर्वक व विवेकयुक्त प्राप्त होने वाली मृत्यु। संथार अर्थात् संस्तारक का अर्थ होता है बिछौना। चूंकि सल्लेखना में व्यक्ति संस्तारक ग्रहण करता है अर्थात् आहारादि का त्याग कर बिछौना बिछा कर शान्त चित्त से एक स्थान पर लेटा रहता है इसलिए इसे संथारा कहते हैं। जब व्यक्ति का शरीर इतना निर्बल हो जाता है कि वह संयम अर्थात् आचार के पालन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध होता है तब उससे मुक्त होना ही साधक के लिए श्रेयस्कर होता है। दूसरे शब्दों में जब शरीर

किसी काम का न रह कर केवल भारभूत हो जाता है तब उससे मुक्ति पाना ही श्रेष्ठ होता है। ऐसी अवस्था में बिना किसी प्रकार का क्रोध किये प्रशान्त एवं प्रसन्न चित्त से आहारादि का त्याग कर आत्मिक चिन्तन करते हुए समभावपूर्वक प्राणोत्सर्ग करना सल्लेखना व्रत का महान् उद्देश्य है। अथवा अन्य प्रकार से मृत्यु का प्रसंग उपस्थित होने पर निर्विकार चित्तवृत्ति से देह का त्याग करना भी सल्लेखना है। श्रावक व श्रमण दोनों के लिए सल्लेखना व्रत का विधान है। इसे व्रत न कह कर व्रतान्त कहना ही अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इसमें समस्त व्रतों का अन्त रहा हुआ है। इसमें जैसे शरीर का प्रशस्त अन्त अभीष्ट है वैसे ही व्रतों का भी पवित्र अन्त वांछित है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सल्लेखना अथवा संथारा आत्मघात नहीं है। आत्मघात के मूल में अतिशय क्रोधादि कषाय विद्यमान होते हैं जबकि सल्लेखना के मूल में कषायों का सर्वथा अभाव होता है। आत्मघात चित्त की अशान्ति एवं अप्रसन्नता का द्योतक है जबकि सल्लेखना चित्त की प्रसन्नता एवं शान्ति का निर्देशक है। आत्मघात में मानसिक असन्तुलन की परिसीमा होती है जबकि सल्लेखना में समभाव का उत्कर्ष होता है। आत्मघात विकृत चित्तवृत्ति का परिणाम है जबकि सल्लेखना निर्विकार चित्तवृत्ति से होती है। सल्लेखना जीवन के अन्तिम समय में अर्थात् शरीर की अत्यधिक निर्बलता—अनुपयुक्तता—भारभूतता की स्थिति में अथवा अन्यथा मृत्यु का प्रसंग उपस्थित होने पर की जाती है जबकि आत्मघात किसी भी स्थिति में किया जा सकता

है। सल्लेखनापूर्वक होने वाली मृत्यु निष्कषायमरण, समाधिमरण एवं पण्डितमरण है जबकि आत्महत्या सकषायमरण, बालमरण एवं अज्ञानमरण है। सल्लेखना आध्यात्मिक वीरता-निर्भीकता है जबकि आत्महत्या निराशामय कायरता—भीरुता है। आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति स्थूल जीवन की निराशा से ऊब कर मृत्युमुख में प्रवेश करता है जबकि संथारा करनेवाला आराधक आध्यात्मिक गुणों की रक्षा के लिए वीरतापूर्वक मृत्यु का आह्वान करता है। उसमें स्थूल जीवन के लोभ से आध्यात्मिक गुणों से च्युत होकर अर्थात् अपने व्रतविशेष का भंगकर मृत्यु से भयभीत होने की कायरता नहीं होती और न स्थूल जीवन की निराशाओं से हताश होकर मृत्युमुख में प्रवेश करने की पामरता ही होती है। वह जितना जीवन से निर्भय होता है उतना ही मृत्यु से निर्भय होता है एवं जितना मृत्यु से निर्भीक रहता है उतना ही जीवन से निर्भीक रहता है। उसके लिए जीवन व मृत्यु दोनों समानभाव से उपादेय होते हैं। वह सुख, सत्कार आदि मिलने पर अधिक समय तक जीवित रहने की कामना नहीं करता एवं दुःख, दुत्कार आदि मिलने पर शीघ्र मरने की इच्छा नहीं करता। कषायादि को कृश करता हुआ स्वाभाविकतया मृत्यु आने पर उसका सहर्ष स्वागत करता है एवं उत्कृष्ट आत्मपरिणामों के साथ अपनी जीवनलीला समाप्त करता है। इस प्रकार के मरण को आदर्श मरण न कहा जाय तो क्या कहा जाय ? इससे बढ़कर सात्त्विक एवं शान्तिपूर्ण मृत्यु कौनसी हो सकती है ? इससे अधिक व्यक्ति के धैर्य एवं विचारशीलता की क्या परीक्षा हो सकती है ? इसमें किसी

प्रकार के आवेश एवं अविवेक को स्थान ही कहाँ? जो शरीर अब रुकने की स्थिति में नहीं है उसे इससे बढ़कर और शानदार विदाई क्या दी जा सकती है? इससे किसी का क्या अहित हो सकता है? इसमें व्यक्ति व समाज दोनों का हित निहित है। इसकी आत्महत्या से किसी भी रूप में तुलना नहीं की जा सकती। जैन आचारशास्त्र परहत्या की तरह आत्महत्या को भी भयंकर पाप मानता है। कषायमुक्त वीतराग अर्हत्प्रणीत आचारशास्त्र में सकषाय मृत्यु अर्थात् क्रोधादि कषायजन्य आत्मघातरूप मरण का विधान अथवा समर्थन कैसे हो सकता है?

द्वादश व्रतों की ही भांति मारणान्तिकी सल्लेखना अथवा संथारा के भी मुख्य पांच अतिचार बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं: १. इहलोकाशंसाप्रयोग, २. परलोकाशंसाप्रयोग, ३. जीविताशंसाप्रयोग, ४. मरणाशंसाप्रयोग, ५. कामभोगाशंसाप्रयोग। इहलोक अर्थात् मनुष्यलोक, आशंसा अर्थात् अभिलाषा, प्रयोग अर्थात् प्रवृत्ति। इहलोकाशंसाप्रयोग अर्थात् मनुष्यलोकविषयक अभिलाषारूप प्रवृत्ति। सल्लेखना के समय इस प्रकार की इच्छा करना कि आगामी भव में इसी लोक में धन, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त हो—इहलोकाशंसाप्रयोग अतिचार है। इसी प्रकार परलोक में देव आदि बनने की इच्छा करना परलोकाशंसाप्रयोग अतिचार है। अपनी प्रशंसा, पूजा-सत्कार आदि होता देख कर अधिक काल तक जीवित रहने की इच्छा करना जीविताशंसाप्रयोग अतिचार है। सत्कार आदि न होता देख कर अथवा कष्ट आदि से घबराकर शीघ्र मृत्यु प्राप्त करने की इच्छा करना मरणाशंसाप्रयोग

अतिचार है। आगामी जन्म में मनुष्यसम्बन्धी अथवा देवसम्बन्धी कामभोग प्राप्त करने की इच्छा करना कामभोगाशंसाप्रयोग अतिचार है। मारणान्तिकी सल्लेखना की आराधना करनेवाले को इन व इस प्रकार के अन्य अतिचारों से बचना चाहिए। इससे सल्लेखना की निर्दोष आराधना होती है। दोष लगने की स्थिति में आलोचना व पश्चात्तापपूर्वक चित्तशुद्धि करनी चाहिए। इस प्रकार शुद्ध तथा शान्तभाव से निष्कषाय एवं निर्दोष मृत्यु का वरण करना चाहिए।

प्रतिमाएं :

उपासकदशांग में आनन्द श्रावक का वर्णन करते हुए बताया गया है कि उसने भगवान् महावीर से पांच अणुव्रत व सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार के गृहस्थ-धर्म को स्वीकार किया एवं घर में रह कर बारह व्रतों का पालन करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत किए। पंद्रहवें वर्ष के प्रारंभ में उसे विचार आया कि मैंने जीवन का काफी हिस्सा गृहस्थ-जीवन में व्यतीत किया है। अब क्यों न गृहस्थी के झंझटों से मुक्त होकर श्रमण भगवान् महावीर से गृहीत धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार कर अपना समय व्यतीत करूँ? ऐसा विचार कर उसने मित्रों आदि के समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का सारा भार सौंपा एवं सबसे विदा लेकर पौषधशाला में जाकर पौषध ग्रहण कर श्रमण भगवान् महावीर से ली हुई धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार कर रहने लगा। उसने उपासक-प्रतिमाएं अंगीकार कीं एवं एक-एक करके ग्यारह प्रतिमाओं की आरा-

धना की। अन्त में मारणान्तिक सल्लेखना स्वीकार कर भक्तपान का प्रत्याख्यान कर समाधिमरण प्राप्त किया एवं सौधर्म देवलोक के सौधर्मावतंसक महाविमान के उत्तर-पूर्व में स्थित अरुण विमान में चार पल्योपम की स्थितिवाले देव के रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ की आयु पूर्ण कर वह महाविदेह में मुक्त होगा।

आनन्द के इस वर्णन में स्पष्ट उल्लेख है कि उसने द्वादश श्रावक-व्रतों का पालन करते हुए जीवन के अन्तिम भाग में एकादश उपासक-प्रतिमाओं की आराधना की एवं सल्लेखना-पूर्वक मृत्यु प्राप्त की। द्वादश व्रतों व सल्लेखना का परिचय तो पाठकों को प्राप्त हो ही चुका है। अब एकादश प्रतिमाओं का परिचय कराना अभीष्ट होगा।

यहाँ प्रतिमा का अर्थ है प्रतिज्ञाविशेष, व्रतविशेष, तप-विशेष अथवा अभिग्रहविशेष। प्रतिमास्थित श्रावक श्रमणवत् व्रतविशेषों की आराधना करता है। कोशकार प्रतिमा के मूर्ति, प्रतिकृति, प्रतिबिम्ब, बिम्ब, छाया, प्रतिच्छाया आदि अर्थ देते हैं। चूँकि प्रतिमाओं की आराधना करने वाले श्रावक का जीवन श्रमण के सदृश होता है अर्थात् उसका जीवन एक प्रकार से श्रमण-जीवन की ही प्रतिकृति होता है अतः उसके व्रतविशेषों को प्रतिमाएँ कहा जाता है। जिस प्रकार श्रावक के लिए श्रमण-जीवन की प्रतिकृतिरूप एकादश उपासक-प्रतिमाओं का विधान किया गया है उसी प्रकार श्रमण के लिए भी अपने से उच्च कोटि के साधक के जीवन की प्रतिकृतिरूप द्वादश भिक्षु-प्रतिमाओं का विधान किया गया है। दशाश्रुतस्कन्ध में इन दोनों प्रकार की

प्रतिमाओं—साधना-सोपानों का संक्षिप्त एवं सुव्यवस्थित वर्णन है। षष्ठ उद्देश में उपासक-प्रतिमाओं तथा सप्तम उद्देश में भिक्षु-प्रतिमाओं पर प्रकाश डाला गया है। व्रतधारी श्रावक में प्रारम्भ की कुछ प्रतिमाएँ पहले से ही विद्यमान होती हैं। अतः उनके लिये उसे विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जिसे श्रावक के व्रतों के पालन का अभ्यास नहीं होता उसे प्रथम प्रतिमा से ही प्रयत्नशील होना पड़ता है।

प्रथम प्रतिमा में सम्यग्दृष्टि अर्थात् आस्तिकदृष्टि प्राप्त होती है। इसमें सर्वधर्मविषयक रुचि अर्थात् सर्वगुणविषयक प्रीति होती है। दृष्टि दोषों की ओर न जाकर गुणों की ओर जाती है। यह प्रतिमा दर्शनशुद्धि अर्थात् दृष्टि की विशुद्धता—श्रद्धा की यथार्थता से सम्बन्ध रखती है। इसमें गुणविषयक रुचि की विद्यमानता होते हुए भी शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि की सम्यक् आराधना नहीं होती। इसका नाम दर्शन-प्रतिमा है।

द्वितीय प्रतिमा का नाम व्रतप्रतिमा है। इसमें शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि तो सम्यक्तया धारण किये जाते हैं किन्तु सामायिकव्रत एवं देशावकाशिकव्रत का सम्यक् पालन नहीं होता।

तृतीय प्रतिमा का नाम सामायिक प्रतिमा है। इसमें सामायिक एवं देशावकाशिक व्रतों की सम्यक् आराधना होते हुए भी चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि के दिनों में पौषधोपवासव्रत का सम्यक् पालन नहीं होता।

चतुर्थ प्रतिमा में स्थित श्रावक चतुर्दशी आदि के दिनों में प्रतिपूर्ण पौषधव्रत का सम्यक्तया पालन करता है। इसका नाम पौषधप्रतिमा है।

पांचवीं प्रतिमा का नाम है नियमप्रतिमा। इसमें स्थित श्रमणोपासक निम्नोक्त पाँच नियमों का विशेष रूप से पालन करता है: १. स्नान नहीं करना, २. रात्रिभोजन नहीं करना, ३. धोती की लांग नहीं लगाना, ४. दिन में ब्रह्मचारी रहना एवं रात्रि में मैथुन की मर्यादा करना, ५. एकरात्रिकी प्रतिमा का पालन करना अर्थात् महीने में कम-से-कम एक रात कायोत्सर्ग अवस्था में ध्यानपूर्वक व्यतीत करना।

छठी प्रतिमा का नाम ब्रह्मचर्यप्रतिमा है क्योंकि इसमें श्रावक दिन की भाँति रात्रि में भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है। इस प्रतिमा में सर्व प्रकार के सचित्त आहार का परित्याग नहीं होता।

सातवीं प्रतिमा में सभी प्रकार के सचित्त आहार का परित्याग कर दिया जाता है किन्तु आरम्भ (कृषि, व्यापार आदि में होने वाली अल्प हिंसा) का त्याग नहीं किया जाता। इस प्रतिमा का नाम है सचित्तत्यागप्रतिमा।

आठवीं प्रतिमा का नाम आरम्भत्यागप्रतिमा है। इसमें उपासक स्वयं तो आरंभ का त्याग कर देता है किन्तु दूसरों से आरंभ करवाने का परित्याग नहीं कर सकता।

नवीं प्रतिमा धारण करनेवाला श्रावक आरंभ करवाने का भी त्याग कर देता है। इस अवस्था में वह उद्दिष्ट भक्त

अर्थात् अपने निमित्त से बने हुए भोजन का परित्याग नहीं करता। इस प्रतिमा का नाम प्रेष्यपरित्यागप्रतिमा है क्योंकि इसमें आरंभ के निमित्त किसी को कहीं भेजने-भिजवाने का त्याग होता है। आरंभवर्धक परिग्रह का त्याग होने के कारण इसे परिग्रहत्यागप्रतिमा भी कहते हैं।

दसवीं प्रतिमा में उद्दिष्ट भक्त का भी त्याग कर दिया जाता है। इस प्रतिमा में स्थित श्रमणोपासक उस्तरे से मुण्डित होता हुआ शिखा धारण करता है अर्थात् सिर को एकदम साफ न कराता हुआ चोटी जितने बाल सिर पर रखता है। इससे यह मालूम होता है कि गृहस्थ के सिर पर चोटी रखने की रूढ़ प्रथा जैन परम्परा में भी मान्य रही है। दसवीं प्रतिमा धारण करने वाले गृहस्थ को जब कोई एक बार अथवा अनेक बार बुलाता है या एक अथवा अनेक प्रश्न पूछता है तब वह दो ही उत्तर देता है। जानने पर कहता है कि मैं यह जानता हूँ। न जानने की स्थिति में कहता है कि मुझे यह मालूम नहीं। चूंकि इस प्रतिमा में उद्दिष्ट भक्त का त्याग अभिप्रेत होता है अतः इसका नाम उद्दिष्टभक्तत्यागप्रतिमा है।

ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम श्रमणभूतप्रतिमा है। श्रमणभूत का अर्थ होता है श्रमण के सदृश। जो गृहस्थ होते हुए भी साधु के समान आचरण करता है अर्थात् श्रावक होते हुए भी श्रमण के समान क्रिया करता है वह श्रमणभूत कहलाता है। श्रमण-भूतप्रतिमाप्रतिपन्न श्रमणोपासक बालों का उस्तरे से मुण्डन कर-वाता है अथवा हाथ से लुंचन करता है। इस प्रतिमा में चोटी

नहीं रखी जाती। वेष, भाण्डोपकरण एवं आचरण श्रमण के ही समान होता है। श्रमणभूत श्रावक मुनिवेष में अनगारवत् आचार-धर्म का पालन करता हुआ जीवनयापन करता है। सम्बन्धियों व जाति के लोगों के साथ यत्किंचित् स्नेहबन्धन होने के कारण उन्हीं के यहाँ से अर्थात् परिचित घरों से ही भिक्षा ग्रहण करता है। भिक्षा लेते समय वह इस बात का ध्यान रखता है कि दाता के यहाँ उसके पहुँचने के पूर्व जो वस्तु बन चुकी होती है वही वह ग्रहण करता है, अन्य नहीं। यदि उसके पहुँचने के पूर्व चावल पक चुके हों और दाल न पकी हो तो वह चावल ले लेगा, दाल नहीं। इसी प्रकार यदि दाल पक चुकी हो और चावल न पके हों तो वह दाल ले लेगा, चावल नहीं। पहुँचने के पूर्व दोनों चीजें बन चुकी हों तो दोनों ले सकता है और एक भी न बनी हो तो एक भी नहीं ले सकता।

प्रतिमाएं गुणस्थानों की तरह आत्मिक विकास के बढ़ते हुए अथवा चढ़ते हुए सोपान हैं अतः उत्तर-उत्तर प्रतिमाओं में पूर्व-पूर्व प्रतिमाओं के गुण स्वतः समाविष्ट होते जाते हैं। जब श्रावक ग्यारहवीं अर्थात् अन्तिम प्रतिमा की आराधना करता है तब उसमें प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की समस्त प्रतिमाओं के गुण रहते हैं। इसके बाद अपनी शक्ति के अनुसार चाहे वह मुनि-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर सकता है, चाहे उसी प्रतिमा को धारण किये रह सकता है। इन प्रतिमाओं में से कुछ के लिए अधिकतम कालमर्यादा भी बतलाई गई है। उदाहरण के लिए पांचवीं प्रतिमा का अधिकतम काल पांच मास, छठी का छः मास,

यावत् ग्यारहवीं का ग्यारह मास है। यह एक साधारण विधान है। साधक के सामर्थ्य के अनुसार इसमें यथोचित परिवर्तन भी हो सकता है।

श्वेताम्बर व दिगम्बर परम्परा-सम्मत उपासक-प्रतिमाओं के क्रम तथा नामों में नगण्य अन्तर है। श्वेताम्बर-परम्परा में एकादश उपासक-प्रतिमाओं के नाम क्रमानुसार इस प्रकार मिलते हैं: १. दर्शन, २. व्रत, ३. सामायिक, ४. पौषध, ५. नियम, ६. ब्रह्मचर्य, ७. सचित्तत्याग, ८. आरम्भत्याग, ९. प्रेष्यपरित्याग अथवा परिग्रहत्याग, १०. उद्दिष्टभक्तत्याग, ११. श्रमणभूत। दिगम्बर-परम्परा में इन प्रतिमाओं के नाम इस क्रम से मिलते हैं: १. दर्शन, २. व्रत, ३. सामायिक, ४. पौषध, ५. सचित्तत्याग, ६. रात्रिभुक्तित्याग, ७. ब्रह्मचर्य, ८. आरम्भत्याग, ९. परिग्रहत्याग, १०. अनुमतित्याग, ११. उद्दिष्टत्याग। उद्दिष्टत्याग के दो भेद होते हैं जिनके लिये क्रमशः क्षुल्लक और ऐलक शब्दों का प्रयोग होता है। ये श्रावक की उत्कृष्ट अवस्थाएँ होती हैं। श्वेताम्बर व दिगम्बर-सम्मत प्रथम चार नामों में कोई अन्तर नहीं है। सचित्तत्याग का क्रम दिगम्बर-परम्परा में पाचवां है जबकि श्वेताम्बर-परम्परा में सातवां है। दिगम्बराभिमत रात्रिभुक्तित्याग श्वेताम्बराभिमत पांचवीं प्रतिमा नियम के अन्तर्गत समाविष्ट है। ब्रह्मचर्य का क्रम श्वेताम्बर-परम्परा में छठा है जबकि दिगम्बर-परम्परा में सातवां है। दिगम्बर-सम्मत अनुमतित्याग श्वेताम्बरसम्मत उद्दिष्टभक्तत्याग के ही अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है क्योंकि इस प्रतिमा में श्रावक

उद्दिष्ट भक्त ग्रहण न करने के साथ ही किसी प्रकार के आरम्भ का समर्थन भी नहीं करता। श्वेताम्बराभिमत श्रमणभूतप्रतिमा ही दिगम्बराभिमत उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है क्योंकि इन दोनों में श्रावक का आचरण भिक्षुवत् होता है। क्षुल्लक व ऐलक श्रमण के ही समान होते हैं।

प्रतिक्रमण :

जीतकल्प सूत्र में जिन दस प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है उनमें प्रतिक्रमण भी एक है। प्रतिक्रमण अर्थात् वापसी। यहाँ वापसी का अर्थ है शुभयोग से अशुभयोग में गये हुए अपने आपको पुनः शुभयोग में लाना। साधक प्रमादवश शुभयोग से च्युत होकर अशुभयोग में पहुँच जाता है। इस प्रकार अशुभयोग को प्राप्त करने के बाद फिर से शुभयोग को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है। जिस प्रकार श्रमण के लिये व्रतों में दोष लगने पर प्रतिक्रमणरूप प्रायश्चित्त आवश्यक माना गया है उसी प्रकार श्रावक के लिये भी अतिचारों की शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण की आवश्यकता स्वीकार की गई है। श्रावक स्थूल प्राणातिपात-विरमण आदि जिन व्रतों को स्वीकार करता है उनमें बन्ध, वध आदि अनेक अतिचाररूप दोष लगने की सम्भावना रहती है। इन दोषों का सम्यक् निरीक्षण कर आलोचनापूर्वक पश्चात्ताप करना चाहिये एवं भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति न हो, इसका ध्यान रखना चाहिये। इस प्रकार श्रावक अशुभयोग से निवृत्त होकर विशुद्धभाव से उत्तरोत्तर शुभयोग में प्रवृत्त होता

जाता है। यही प्रतिक्रमण की सार्थकता है। प्रतिक्रमण का प्रयोजन साधक के जीवन से प्रमादभाव को दूर करना है। अज्ञान, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष आदि प्रमाद के ही रूप हैं। प्रमाद साधक-जीवन का एक भयंकर रोग है जो साधना को सड़ा-गला कर नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। प्रतिक्रमण इस रोग को नष्ट करने की एक अद्भुत औषधि है। साधक को इस ढंग से प्रतिक्रमणरूप औषधि का सेवन करते रहना चाहिए कि प्रमादरूप रोग जीवन में तनिक भी पनपने न पाए।

●

श्रमण-धर्म

महाव्रत

रात्रिभोजन-विरमणव्रत

षडावश्यक

आदर्श श्रमण

अचेलकत्व व सचेलकत्व

वस्त्रमर्यादा

वस्त्र की गवेषणा

पात्र की गवेषणा व उपयोग

आहार

आहार क्यों ?

आहार क्यों नहीं ?

विशुद्ध आहार

आहार का उपयोग

आहारसम्बन्धी दोष

एकभक्त

विहार अर्थात् गमनागमन

नौकाविहार

पदयात्रा

वसति अर्थात् उपाश्रय

सामाचारी

सामान्य चर्या

पर्युंषणाकल्प

भिक्षु-प्रतिमाएं

समाधिमरण अथवा पण्डितमरण

●

: ५ : श्रमण-धर्म

उपासक अथवा श्रावक अंशतः हिंसादि का त्याग करता है अतः वह देशविरत कहलाता है। श्रमण अथवा भिक्षु पूर्णतः हिंसादि का प्रत्याख्यान करता है अतः वह सर्वविरत कहलाता है। श्रावक के व्रतों को अणुव्रत अर्थात् आंशिक त्याग और श्रमण के व्रतों को महाव्रत अर्थात् पूर्ण त्याग कहा जाता है। सर्वविरतिरूप महाव्रत पाँच हैं: १. सर्वप्राणातिपात-विरमण, २. सर्वमृषावाद-विरमण, ३. सर्वअदत्तादान-विरमण, ४. सर्व-मैथुन-विरमण ५. सर्वपरिग्रह-विरमण। प्राणातिपात अर्थात् हिंसा आदि का करना, कराना और अनुमोदन करना रूप तीन करणों का मन, वचन और काय रूप तीन योगों से निषेध किया गया है। इस प्रकार के त्याग को नवकोटि (३ × ३ = ९) प्रत्याख्यान कहा जाता है। प्राणातिपात से नवकोटि से विरति लेना सर्वप्राणातिपात-विरमणरूप प्रथम महाव्रत है। इसी प्रकार मृषावाद अर्थात् झूठ, अदत्तादान अर्थात् चोरी, मैथुन अर्थात् कामभोग और परिग्रह अर्थात् संग्रह के नवकोटि प्रत्याख्यानरूप सर्वमृषावाद-विरमण, सर्वअदत्तादान-विरमण, सर्वमैथुन-विरमण और सर्वपरिग्रह-विरमण के विषय में समझ लेना चाहिए। ये महाव्रत यावज्जीवन अर्थात् जीवनभर के लिए होते हैं।

महाव्रत :

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय

और त्रसकाय जीवनिकाय हैं। इन छः जीवनिकायों की हिंसा का नवकोटि-प्रत्याख्यान सर्वप्राणातिपात-विरमण महाव्रत कहलाता है। पृथ्वीकाय अर्थात् भूमि, अप्काय अर्थात् जल, तेजस्काय अर्थात् वह्नि, वायुकाय अर्थात् पवन, वनस्पतिकाय अर्थात् हरित और त्रसकाय अर्थात् द्वीन्द्रियादि प्राणी। महाव्रतधारी श्रमण अथवा श्रमणी का कर्तव्य है कि वह दिन में अथवा रात्रि में, अकेले अथवा समूह में, सोते हुए अथवा जागते हुए भूमि, भित्ति, शिला, पत्थर, धुलियूक्त शरीर अथवा वस्त्र को हस्त, पाद, काष्ठ, अंगुली, शलाका आदि से न झाड़े, न पोंछे, न इधर-उधर हिलाये, न छेदन करे, न भेदन करे। अपने धूलियुक्त शरीर आदि को वस्त्रादि मृदु साधनों से सावधानीपूर्वक झाड़े-पोंछे। उदक, ओस, हिम, आर्द्र शरीर अथवा आर्द्र वस्त्र को न छुए, न सुखाए, न निचोड़े, न झटके, न अग्नि के पास रखे। अपने गीले शरीर आदि को यतनापूर्वक सुखाए अथवा सूखने दे। अग्नि, अंगार, चिनगारी, ज्वाला अथवा उल्का को न जलाये, न बुझाये, न हिलाये, न जल से शान्त करे, न बिखेरे। पंखे, पत्र, शाखा, वस्त्र, हस्त, मुख आदि से हवा न करे। बीज, अंकुर, पौधे, वृक्ष आदि पर पैर न रखे, न बैठे, न सोये। हाथ, पैर, सिर, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, शय्या, संस्तारक आदि में कीट, पतंग, कुंथू, चींटी आदि दिखाई देने पर उन्हें यतनापूर्वक एकान्त में छोड़ दे। प्रत्येक जीव जीने की इच्छा करता है। कोई भी मरना नहीं चाहता। जिस प्रकार हमें अपना जीवन प्रिय है उसी प्रकार दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है। इसलिए निर्ग्रन्थ मुनि प्राणवध का त्याग करते हैं। असावधानी-

पूर्वक बैठने, उठने, चलने, सोने, खाने, पीने, बोलने से पापकर्म बँधता है। इसलिए भिक्षु को समस्त क्रिया यतनापूर्वक करनी चाहिए। जो जीव और अजीव को जानता है, वस्तुतः वही संयम को जानता है। क्योंकि जीव और अजीव को जानने पर ही संयमी जीवों की रक्षा कर सकता है। इसलिए कहा गया है कि पहले ज्ञान है, फिर दया। जो संयमी ज्ञानपूर्वक दया का आचरण करता है वही वस्तुतः दयाधर्म का पालन करता है। अज्ञानी न पुण्य-पाप को समझ सकता है, न धर्म-अधर्म को जान सकता है, न हिंसा-अहिंसा का विवेक कर सकता है।

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की तृतीय चूला में पांच महाव्रतों की पचीस भावनाएँ बताई गई हैं जिनके पालन से महाव्रतों की रक्षा होती है। प्राणातिपात-विरमण की पांच भावनाएँ ये हैं : १. ईर्याविषयक समिति—गमनागमनसम्बन्धी सावधानी, २. मन की अपापकता—मानसिक विकाररहितता, ३. वचन की अपापकता—वाणी की विशुद्धता, ४. भाण्डोपकरणविषयक समिति—पात्रादि उपकरण-सम्बन्धी सावधानी, ५. भक्त-पान-विषयक आलोकिकता—खान-पानसम्बन्धी सचेतता। ये एवं इसी प्रकार की अन्य प्रशस्त भावनाएँ अहिंसाव्रत को सुदृढ़ एवं सुरक्षित करती हैं।

जिस प्रकार सर्वविरत श्रमण जीवकाय की हिंसा का सर्वथा त्याग करता है उसी प्रकार वह मृषावाद से भी सर्वथा विरत होता है। असत्य हिंसादि दोषों का जनक है, यह समझकर वह कदापि असत्य वचन का प्रयोग नहीं करता। वह हमेशा निर्दोष,

अकर्कश, असंदिग्ध वाणी बोलता है। क्रोध, मान, माया व लोभमूलक वचन तथा जान-बूझकर अथवा अज्ञानवश प्रयोग किये जाने वाले कठोर वचन अनार्य वचन हैं। ये दोषयुक्त होने के कारण त्याज्य हैं। श्रमण को संदिग्ध अथवा अनिश्चित दशा में निश्चय-वाणी का प्रयोग नहीं करना चाहिए। सम्यक्तया निश्चय होने पर ही निश्चय-वाणी बोलनी चाहिए। सदोष, कठोर, जीवों को कष्ट पहुंचाने वाली भाषा भिक्षु न बोले। वह सत्य, मृदु, निर्दोष, अभूतोपघातिनी भाषा काम में ले। सत्य होने पर भी अवज्ञासूचक शब्दों का प्रयोग न करे किन्तु सम्मानसूचक शब्द प्रयोग में ले। संक्षेप में कहा जाय तो सर्वविरत भिक्षु को क्रोधादि कषायों का परित्याग कर, समभाव धारण कर विचार व विवेक पूर्वक संयमित सत्य भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

सत्यव्रत की पांच भावनाएँ ये हैं: १. वाणीविवेक, २. क्रोध-त्याग, ३. लोभत्याग, ४. भयत्याग, ५. हास्यत्याग। वाणीविवेक अर्थात् सोच-समझकर भाषा का प्रयोग करना। क्रोधत्याग अर्थात् गुस्सा न करना। लोभत्याग अर्थात् लालच में न फंसना। भयत्याग अर्थात् निर्भीक रहना। हास्यत्याग अर्थात् हँसी-मजाक न करना। इन व इसी प्रकार की अन्य प्रशस्त भावनाओं से सत्यव्रत की रक्षा होती है।

अदत्तादान से सर्वथा विरमण होने वाला श्रमण कोई भी वस्तु बिना दी हुई ग्रहण नहीं करता। वह बिना अनुमति के एक तिनका उठाना भी स्तेय अर्थात् चोरी समझता है। किसी की गिरी हुई, भूली हुई, रखी हुई अथवा अज्ञात स्वामी की

वस्तु को छूना भी उसके लिए निषिद्ध है। आवश्यकता होने पर वह स्वामी की अनुमति से अर्थात् उपयुक्त व्यक्ति के देने पर ही किसी वस्तु को ग्रहण करता है अथवा उसका उपयोग करता है। जिस प्रकार वह स्वयं अदत्तादान का सेवन नहीं करता उसी प्रकार किसी से करवाता भी नहीं और करने-कराने वालों का समर्थन भी नहीं करता। इस प्रकार सर्वविरत मुनि सुविशुद्ध भावना से अदत्तादान-विरमण महाव्रत का पालन करता है। इससे उसके अहिंसाव्रत के पालन में सहायता मिलती है।

अस्तेयव्रत की दृढ़ता एवं सुरक्षा के लिए पांच भावनाएं इस प्रकार बतलाई गई हैं : १. सोच-विचार कर वस्तु की याचना करना, २. आचार्य आदि की अनुमति से भोजन करना, ३. परिमित पदार्थ स्वीकार करना, ४. पुनः-पुनः पदार्थों की मर्यादा करना, ५. साधर्मिक (साथी श्रमण) से परिमित वस्तुओं की याचना करना।

श्रमण-श्रमणी के लिए मैथुन का पूर्ण त्याग अनिवार्य है। उसके मैथुनत्याग को सर्वमैथुन-विरमण कहा जाता है। इसमें उसके लिए मन, वचन एवं काय से मैथुन का सेवन करने, करवाने तथा अनुमोदन करने का निषेध होता है। इसे नवकोटि ब्रह्मचर्य अथवा नवकोटि शील कहा जाता है। मैथुन को अधर्म का मूल तथा महादोषों का स्थान कहा गया है। इससे अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न होते हैं, हिंसादि दोषों और कलह-संघर्ष-विग्रह का जन्म होता है। यह सब समझकर निर्ग्रंथ मुनि मैथुन के संसर्ग का सर्वथा त्याग करते हैं। जैसे मुर्गी के बच्चे को

बिल्ली से हमेशा डर रहता है उसी प्रकार संयमी श्रमण को स्त्री के शरीर एवं संयत श्रमणी को पुरुष की काया से सदा भय रहता है। वे स्त्री-पुरुष के रूप, रंग, चित्र आदि देखना तथा गीत आदि सुनना भी पाप समझते हैं। यदि उस ओर दृष्टि चली भी जाय तो वे तुरन्त सावधान होकर अपनी दृष्टि को खींच लेते हैं। वे बाल, युवा एवं वृद्ध सभी प्रकार के नर-नारियों से दूर रहते हैं। इतना ही नहीं, वे किसी भी प्रकार के कामोत्तेजक अथवा इन्द्रियाकर्षक पदार्थ से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते।

ब्रह्मचर्यव्रत के पालन के लिए पाँच भावनाएँ इस रूप में बतलाई गई हैं: १. स्त्री-कथा न करना, २. स्त्री के अंगों का अवलोकन न करना, ३. पूर्वानुभूत काम-क्रीड़ा आदि का स्मरण न करना, ४. मात्रा का अतिक्रमण कर भोजन न करना, ५. स्त्री आदि से सम्बद्ध स्थान में न रहना। जिस प्रकार श्रमण के लिए स्त्री-कथा आदि का निषेध है उसी प्रकार श्रमणी के लिए पुरुष-कथा आदि का प्रतिषेध है। ये एवं इसी प्रकार की अन्य भावनाएँ सर्वमैथुन-विरमण व्रत की सफलता के लिए अनिवार्य हैं।

सर्वविरत श्रमण के लिए सर्वपरिग्रह-विरमण भी अनिवार्य है। परिग्रह मानव-जीवन का एक बहुत बड़ा पाप है, दोष है, हिंसा है। यह मनुष्य की मनोवृत्ति को उत्तरोत्तर कलुषित करता है। इससे व्यक्ति में अशान्ति उत्पन्न होती है, अशुभ भावनाएँ पैदा होती हैं तथा समाज मे संघर्ष बढ़ता है, कलह पनपता है। किसी भी वस्तु का ममत्वमूलक संग्रह परिग्रह कहलाता है। सर्वविरत श्रमण स्वयं इस प्रकार का संग्रह कदापि नहीं करता,

दूसरों से नहीं कराता और करने वालों का समर्थन नहीं करता। वह पूर्णतया अनासक्त एवं अकिंचन होता है। इतना ही नहीं, वह अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखता। संयम-निर्वाह के लिए वह जो कुछ भी अल्पतम उपकरण अपने पास रखता है उन पर भी उसका ममत्व नहीं होता। उनके खो जाने अथवा नष्ट हो जाने पर उसे शोक नहीं होता तथा प्राप्त होने पर हर्ष नहीं होता, वह उन्हें केवल संयम-यात्रा के साधन के रूप में काम में लेता है। जिस प्रकार वह अपने शरीर का अनासक्त भाव से पालन-पोषण करता है उसी प्रकार अपने उपकरणों का भी निर्मम भाव से रक्षण करता है। ममत्व अथवा आसक्ति आन्तरिक ग्रन्थि है। जो साधक इस ग्रन्थि का छेदन करता है वह निर्ग्रन्थ कहलाता है। सर्वविरत श्रमण इसी प्रकार का निर्ग्रन्थ होता है।

अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएँ ये हैं: १. श्रोत्रेन्द्रिय के विषय शब्द के प्रति राग-द्वेषरहितता अर्थात् अनासक्त भाव, २. चक्षुरिन्द्रिय के विषय रूप के प्रति अनासक्त भाव, ३. घ्राणेन्द्रिय के विषय गन्ध के प्रति अनासक्त भाव, ४. रसनेन्द्रिय के विषय रस के प्रति अनासक्त भाव, ५. स्पर्शनेन्द्रिय के विषय स्पर्श के प्रति अनासक्त भाव।

रात्रिभोजन-विरमणव्रत :

वट्टकेराचार्यकृत मूलाचार के मूलगुणाधिकार नामक प्रथम प्रकरण में सर्वविरत श्रमण के २८ मूल गुणों का वर्णन है: पांच

महाव्रत, पांच समितियाँ, पांच इन्द्रियों का निरोध, छः आवश्यक, लोच, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त। एकभक्त की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि मुनि सूर्योदय व सूर्यास्त के मध्य में एक बार भोजन करता है। सूर्यास्त व सूर्योदय के बीच यानी रात्रि में उसके भोजन का सर्वथा त्याग होता है। दशवैकालिक सूत्र के क्षुल्लिकाचार-कथा नामक तृतीय अध्ययन में निर्ग्रन्थों के लिए औद्देशिक भोजन, क्रीत भोजन, आमन्त्रण स्वीकार कर ग्रहण किया हुआ भोजन यावत् रात्रिभोजन का निषेध किया गया है। षड्-जीवनिकाय नामक चतुर्थ अध्ययन में पाँच महाव्रतों के साथ रात्रिभोजन-विरमण का भी प्रतिपादन किया गया है एवं उसे छठा व्रत कहा गया है। आचारप्रणिधि नामक आठवें अध्ययन में स्पष्ट कहा गया है कि रात्रिभोजन हिंसादि दोषों का जनक है। अतः निर्ग्रन्थ सूर्य के अस्त होने से लेकर सूर्य का उदय होने तक किसी भी प्रकार के आहारादि की मन से भी इच्छा न करे। इस प्रकार जैन आचार-ग्रन्थों में सर्वविरत के लिए रात्रिभोजन का सर्वथा निषेध किया गया है। वह आहार, पानी आदि किसी भी वस्तु का रात्रि में उपभोग नहीं करता। जैन आचार-शास्त्र अहिंसाव्रत की सम्पूर्ण साधना के लिए रात्रिभोजन का त्याग अनिवार्य मानता है।

षडावश्यक :

मूलाचार आदि दिगम्बर परम्परा के आचार-ग्रन्थों एवं आवश्यक आदि श्वेताम्बर परम्परा के आचार-ग्रन्थों में सर्वविरत

मुनि के लिए षडावश्यक अर्थात् छः आवश्यकों का विधान किया गया है। इनके नाम दोनों परम्पराओं में एक हैं—अभिन्न हैं। क्रम की दृष्टि से पांचवें व छठे नाम में विपर्यय है। दिगम्बर परम्परा में इनका क्रम इस प्रकार है : १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. प्रत्याख्यान, ६. कायोत्सर्ग। श्वेताम्बर परम्पराभिमत षडावश्यक-क्रम यों है : १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग, ६. प्रत्याख्यान।

जो अवश्य करने योग्य होता है उसे आवश्यक कहते हैं। सामायिक आदि मुनि की प्रतिदिन करने योग्य क्रियाएँ हैं अतः इन्हें आवश्यक कहा जाता है। दूसरे शब्दों में सामायिकादि षडावश्यक निर्ग्रन्थ के नित्यकर्म हैं। इन्हें श्रमण को प्रतिदिन दोनों समय अर्थात् दिन व रात्रि के अन्त में अवश्य करना होता है।

सम को आय करना अर्थात् त्रस और स्थावर सभी प्राणियों पर समभाव रखना सामायिक है। जिसकी आत्मा संयम, नियम व तप में संलीन होती है अर्थात् जो आत्मा को मन, वचन व काय की पापपूर्ण प्रवृत्तियों से हटाकर निरवद्य व्यापार में प्रवृत्त करता है उसे सामायिक की प्राप्ति होती है। सामायिक में बाह्य दृष्टि का त्यागकर अन्तर्दृष्टि अपनाई जाती है—बहिर्मुखी प्रवृत्ति त्यागकर अन्तर्मुखी प्रवृत्ति स्वीकार की जाती है। सामायिक समस्त आध्यात्मिक साधनाओं की आधारशिला है। जब साधक सर्व सावद्य योग से विरत होता है, छः काय के जीवों के प्रति संयत होता है, मन-वचन-काय को नियन्त्रित करता है, आत्म-

स्वरूप में उपयुक्त होता है, यतनापूर्वक आचरण करता है तब वह सामायिकयुक्त होता है।

समभावरूप सामायिक के महान् साधक एवं उपदेशक तीर्थंकरों की स्तुति करना चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है। तीर्थंकर का अर्थ है तीर्थ की स्थापना करने वाला। जिसके द्वारा संसार-सागर तरा जाता है—पार किया जाता है उसे तीर्थ कहते हैं। इस प्रकार का तीर्थ धर्म कहलाता है। जो तीर्थ अर्थात् धर्म का प्रवर्तन करता है वह तीर्थंकर कहलाता है। जैन परम्परा में इस प्रकार के चौबीस तीर्थंकर माने गये हैं। इन्होंने भिन्न-भिन्न समय में निर्ग्रन्थ-धर्म का प्रवर्तन किया है। भगवान् महावीर निर्ग्रन्थ-धर्म के अन्तिम प्रवर्तक हुए हैं। इन्हें चौबीसवाँ तीर्थंकर कहा जाता है। चौबीस तीर्थंकरों का उत्कीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव है। त्याग, वैराग्य, संयम व साधना के महान् आदर्श एवं सामायिक धर्म के परम पुरस्कर्ता वीतराग तीर्थंकरों के उत्कीर्तन से आध्यात्मिक बल प्राप्त होता है। उनकी स्तुति से साधना का मार्ग प्रशस्त होता है। उनके गुण-कीर्तन से संयम में स्थिरता आती है। उनकी भक्ति से प्रशस्त भावों की वृद्धि होती है। तीर्थंकरों की स्तुति करने से प्रसुप्त आन्तरिक चेतना जाग्रत होती है। केवल स्तुति से ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। स्तुति तो सोयी हुई आत्मचेतना को जगाने का केवल एक साधन है। तीर्थंकरों की स्तुति मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती। मुक्ति के लिए भक्ति एवं स्तुति के साथ-साथ संयम एवं साधना भी आवश्यक है।

जिस प्रकार मुनि के लिए तीर्थंकर-स्तव आवश्यक है उसी प्रकार गुरुस्तव भी आवश्यक है। गुरु-स्तव को आवश्यक सूत्र में वंदन कहा गया है। तीर्थंकर के बाद यदि वंदन करने योग्य है तो वह गुरु है क्योंकि गुरु अहिंसा आदि की उत्कृष्ट आराधना करने के कारण शिष्य के लिए साक्षात् आदर्श का कार्य करता है। उससे उसे प्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त होती है। उसके प्रति सम्मान होने पर उसके गुणों के प्रति सम्मान होता है। तीर्थंकर के बाद सद्-धर्म का उपदेश देने वाला गुरु ही होता है। गुरु ज्ञान व चारित्र दोनों में बड़ा होता है अतः वन्दन योग्य है। गुरुदेव को वन्दन करने का अर्थ होता है गुरुदेव का उत्कीर्तन व अभिवादन करना। वाणी से उत्कीर्तन अर्थात् स्तवन किया जाता है तथा शरीर से अभिवादन अर्थात् प्रणाम। गुरु को वन्दन इसलिए किया जाता है कि वह गुणों में गुरु अर्थात् भारी होता है। गुणहीन व्यक्ति को अवन्दनीय कहा गया है। जो गुणहीन अर्थात् अवंद्य को वंदन करता है उसके कर्मों की निर्जरा नहीं होती, उसके संयम का पोषण नहीं होता। इस प्रकार के वन्दन से असंयम का अनुमोदन, अनाचार का समर्थन, दोषों का पोषण और पाप-कर्म का बन्धन होता है। इस प्रकार का वन्दन केवल कायक्लेश है। अवंद्य को वन्दन करने में वन्दन करने वाले एवं वन्दन कराने वाले दोनों का पतन होता है। वन्दन आवश्यक का समुचित पालन करने से विनय की प्राप्ति होती है, अहंभाव की समाप्ति होती है, उत्कृष्ट आदर्शों का ज्ञान होता है, गुरुजनों का सम्मान होता है, तीर्थंकरों की आज्ञा की अनुपालना और श्रुतधर्म की आराधना होती है।

परिणामतः आत्मशक्ति की वृद्धि—विकास होता है तथा अन्ततोगत्वा सिद्धि प्राप्त होती है—मुक्ति मिलती है। अतः साधक को गुरु-वन्दन के प्रति उदासीनता अथवा प्रमत्तता नहीं रखनी चाहिए।

प्रमादवश शुभ योग से च्युत होकर अशुभ योग को प्राप्त करने के बाद पुनः शुभ योग को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है। मन, वचन अथवा काया से कृत, कारित अथवा अनुमोदित पापों की निवृत्ति के लिए आलोचना करना, पश्चात्ताप करना, निन्दा करना, अशुद्धि का त्याग कर शुद्धि प्राप्त करना प्रतिक्रमण है। यह एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन एवं परिग्रहरूप जिन पापकर्मों का निर्ग्रन्थ श्रमण के लिए प्रतिषेध किया गया है उनका प्रमादवश उपार्जन करने पर प्रतिक्रमण करना चाहिए। सामायिक, स्वाध्याय आदि जिन शुभ प्रवृत्तियों का सर्वविरत संयमी के लिए विधान किया गया है, उनका आचरण न करने पर भी प्रतिक्रमण करना चाहिए। क्योंकि अकर्तव्य कर्म को करना जैसे पाप है वैसे ही कर्तव्य कर्म को न करना भी पाप ही है। इसी प्रकार मानसिक व वाचिक शुद्धि के लिए भी प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। प्रतिक्रमण भी सामायिक आदि की ही तरह केवल क्रिया तक सीमित नहीं रहना चाहिए। उससे वस्तुतः दोष-शुद्धि होनी चाहिए। तभी प्रतिक्रमण करना सार्थक कहा जाएगा। इसी बात को पारिभाषिक पदावली में यों कह सकते हैं कि सक्षम साधक के लिए भाव-प्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्य-प्रतिक्रमण

नहीं। उपयोगयुक्त प्रतिक्रमण भाव-प्रतिक्रमण है तथा उपयोगशून्य प्रतिक्रमण द्रव्य-प्रतिक्रमण है। यही बात सामायिकादि अन्य क्रियाओं के विषय में भी सत्य है। एक बार दोषोंकी शुद्धि करने के बाद बार-बार उन दोषों का सेवन करना तथा उनकी शुद्धि के लिए बार-बार प्रतिक्रमण करना वस्तुतः प्रतिक्रमण नहीं कहा जा सकता। प्रतिक्रमण का उद्देश्य सेवित दोषों की शुद्धि करना तथा उन दोषों की पुनरावृत्ति न करना है। बार-बार दोषों का सेवन करना व बार-बार उनका प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण का परिहास करना है। इससे दोषशुद्धि होने के बजाय दोषवृद्धि ही होती है।

काय के उत्सर्ग अर्थात् शरीर के त्याग को कार्योत्सर्ग कहते हैं। यह कैसे ? यहाँ शरीरत्याग का अर्थ है शरीरसम्बन्धी ममता का त्याग। शारीरिक ममत्व को छोड़कर आत्म-स्वरूप में लीन होने का नाम कायोत्सर्ग है। साधक जब बहिर्मुखवृत्ति का त्याग कर अन्तर्मुखवृत्तिको स्वीकार करता है तब वह अपने शरीर के प्रति भी अनासक्त हो जाता है अर्थात् स्व-शरीरसम्बन्धी ममता का त्याग कर देता है। इस स्थिति में उस पर जो कुछ भी संकट आता है, वह समभावपूर्वक सहन करता है। ध्यान की साधना अर्थात् चित्त की एकाग्रता के अभ्यास के लिए कायोत्सर्ग अनिवार्य है। कायोत्सर्ग में हिलना-डुलना, बोलना-चलना, उठना-बैठना आदि बन्द होता है। एक स्थान पर बैठकर निश्चल एवं निस्पन्द मुद्रा में खड़े होकर अथवा निर्निमेष दृष्टि से आत्मध्यान में लगना होता है। सर्वविरत श्रमण प्रतिदिन प्रातः व सायं

कायोत्सर्ग द्वारा शरीर व आत्मा के सम्बन्ध में विचार करता है कि यह शरीर अन्य है और मैं अन्य हूँ। मैं चैतन्य हूँ—आत्मा हूँ जब कि यह शरीर जड़ है—भौतिक है। अपने से भिन्न इस शरीर पर ममत्व रखना अनुचित है। इस प्रकार की उदात्त भावना के अभ्यास के कारण वह कायोत्सर्ग के समय अथवा अन्य प्रसंग पर आने वाले सभी प्रकार के उपसर्गों—कष्टों को सम्यक् प्रकार से सहन करता है। ऐसा करने पर ही उसका कायोत्सर्ग सफल होता है। कायोत्सर्ग भी द्रव्य व भाव के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। शरीर की चेष्टाओं का निरोध करके एक स्थान पर निश्चल एवं निस्पन्द स्थिति में खड़े रहना अथवा बैठना द्रव्य-कायोत्सर्ग है। ध्यान अर्थात् आत्मचिन्तन भाव-कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग में ध्यान का ही विशेष महत्त्व है। शारीरिक स्थिरता ध्यान की निर्विघ्न साधना के लिए आवश्यक है। कायचेष्टा-निरोधरूप द्रव्य-कायोत्सर्ग आत्म-चिन्तनरूप भाव-कायोत्सर्ग की भूमिका का कार्य करता है। अतः कायोत्सर्ग की सम्यक् सिद्धि के लिए द्रव्य व भाव दोनों रूप आवश्यक हैं।

प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग। वैसे तो सर्वविरत मुनि के हिंसादि दोषों से युक्त सर्व पदार्थों का त्याग होता ही है किन्तु निर्दोष पदार्थों में से भी अमुक का त्याग कर अमुक का सेवन करना अनासक्त भाव के सिंचन के लिए आवश्यक है। प्रत्याख्यान आवश्यक इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। इसके द्वारा मुनि अमुक समय तक के लिए अथवा जीवनभर के लिए अमुक प्रकार के अथवा सब प्रकार के पदार्थों के सेवन का त्याग करता है।

इससे तृष्णा, लोभ, अशान्ति आदि मनोविकारों का नियन्त्रण होता है। तन, मन व वचन अशुभ प्रवृत्तियों से रुककर शुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होते हैं। भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र के सातवें शतक के दूसरे उद्देशक में प्रत्याख्यान के विविध भेदों का वर्णन है। इनमें अनागत आदि दस भेद प्रत्याख्यान का स्वरूप समझने के लिए विशेष उपयोगी हैं। इन दस प्रकार के प्रत्याख्यानों के नाम ये हैं : १. अनागत, २. अतिक्रांत, ३. कोटियुक्त, ४. नियन्त्रित, ५. सागार, ६. अनागार, ७. कृतपरिमाण, ८. निरवशेष, ९. सांकेतिक, १०. कालिक,। पर्व आदि विशिष्ट अवसर पर किया जाने वाला प्रत्याख्यान अर्थात् त्यागविशेष—तपविशेष कारणवशात् पर्व आदि से पहले ही कर लेना अनागत प्रत्याख्यान है। पर्व आदि के व्यतीत हो जाने पर तपविशेष की आराधना करना अतिक्रांत प्रत्याख्यान है। एक तप के समाप्त होते ही दूसरा तप प्रारम्भ कर देना कोटियुक्त प्रत्याख्यान है। रोग आदि की बाधा आने पर भी पूर्वसंकल्पित त्याग निश्चित समय पर करना एवं उसे दृढ़तापूर्वक पूर्ण करना नियन्त्रित प्रत्याख्यान है। त्याग करते समय आगार अर्थात् अपवाद-विशेष की छूट रख लेना सागार प्रत्याख्यान है। आगार रखे बिना त्याग करना अनागार प्रत्याख्यान है। भोज्य पदार्थ आदि की संख्या अथवा मात्रा का निर्धारण करना कृतपरिमाण प्रत्याख्यान है। अशनादि चतुर्विध अर्थात् सम्पूर्ण आहार का त्याग करना निरवशेष प्रत्याख्यान है। इसमें पानी का त्याग भी शामिल है। किसी प्रकार के संकेत के साथ किया जानेवाला त्याग

सांकेतिक प्रत्याख्यान कहलाता है, यथा मुट्ठी बांधकर, गांठ बांधकर अथवा अन्य प्रकार से यह प्रत्याख्यान करना कि जब तक मेरी यह मुट्ठी या गांठ बंधी हुई है अथवा अमुक वस्तु अमुक प्रकार से पड़ी हुई है तब तक मैं चतुर्विध आहार, त्रिविध आहार आदि का त्याग करता हूँ। कालविशेष की निश्चित मर्यादा अर्थात् समय की निश्चित अवधि के साथ किया जाने वाला त्याग कालिक प्रत्याख्यान अथवा अद्धा-प्रत्याख्यान कहलाता है। जैन परिभाषा में अद्धा का अर्थ काल होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के सम्यक्त्व-पराक्रम नामक उनतीसवें अध्ययन में षडावश्यक का संक्षिप्त फल इस प्रकार बतलाया गया है :—

सामायिक से सावद्य योग (पापकर्म) से निवृत्ति होती है। चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन-विशुद्धि (श्रद्धा-शुद्धि) होती है। वंदन से नीच गोत्रकर्म का क्षय होता है, उच्च गोत्रकर्म का बंध होता है, सौभाग्य की प्राप्ति होती है, अप्रतिहत आज्ञाफल मिलता है तथा दाक्षिण्यभाव (कुशलता) की उपलब्धि होती है। प्रतिक्रमण से व्रतों के दोषरूप छिद्रों का निरोध होता है। परिणामतः आस्रव (कर्मागमन-द्वार) बंद होता है तथा शुद्ध चारित्र का पालन होता है। कायोत्सर्ग से प्रायश्चित्त-विशुद्धि होती है—अतिचारों की शुद्धि होती है जिससे आत्मा प्रशस्त धर्म-ध्यान में रमण करता हुआ परमसुख का अनुभव करता है। प्रत्याख्यान से आस्रव-द्वार बन्द होते हैं तथा इच्छा का निरोध

होता है। इच्छा का निरोध होने के कारण साधक वितृष्ण अर्थात् निस्पृह होता हुआ शान्तचित्त होकर विचरता है।

सर्वविरत श्रमण के लिए जिनका पालन आवश्यक बताया गया है उन षडावश्यकों का आचरण देशविरत श्रावक भी अपनी मर्यादानुसार करता है। इससे उसके व्रतों में दृढ़ता आती है तथा दोषशुद्धि होती है। श्रावक के लिए प्रतिक्रमण आदि के अलग पाठों की व्यवस्था भी जैन आचारशास्त्र में की गई है।

आदर्श श्रमण :

यदि श्रमण-जीवन का आदर्श एवं हृदय-स्पर्शी चित्र देखना हो तो आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का नवम अध्ययन पढ़ना चाहिए। इस अध्ययन का नाम उपधानश्रुत है। उपधान शब्द की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने बताया है कि तकिया द्रव्य-उपधान है जिससे शयन करने में सुविधा मिलती है; तथा तपस्या भाव-उपधान है जिससे चारित्रपालन में सहायता मिलती है। जिस प्रकार जल से मलिन वस्त्र शुद्ध होता है उसी प्रकार तपस्या से आत्मा के कर्ममल का नाश होता है। प्रस्तुत अध्ययन में श्रमण भगवान् महावीर की साधनाकालीन तपस्या का हृदय-स्पर्शी वर्णन है। महावीर एक आदर्श श्रमण थे। उन्होंने अपने श्रमण-जीवन में जिस प्रकार की कठोर तपस्या का सेवन किया उस प्रकार की कठोर तपस्या प्रत्येक जैन श्रमण के लिए आचरणीय है। वही श्रमण भगवान् महावीर का सच्चा अनुयायी है जो उपधानश्रुत-निर्दिष्ट तपोमय जीवन जीने का सक्रिय प्रयत्न करता है। उसकी

साधना तदाधारित होनी चाहिए, उसके समक्ष सदा महावीर का तपःकर्म आदर्श के रूप में रहना चाहिए। विशुद्ध तपोमय जीवन ही श्रमणधर्म का आदर्श है। यही श्रामण्य है—श्रमण-जीवन का सार है।

उपधानश्रुत अध्ययन चार उद्देशों में विभक्त है। प्रथम उद्देश में महावीर की चर्या अर्थात् विहार का वर्णन है। द्वितीय में शय्या अर्थात् वसति, तृतीय में परीषह अर्थात् कष्ट तथा चतुर्थ में आतंक-चिकित्सा का वर्णन किया गया है। इस संपूर्ण वर्णन में तपस्या का सामान्य रूप से समावेश किया गया है। यह वर्णन इतना सहज, समीचीन एवं सरल है कि पाठक अथवा श्रोता का सिर उस महान् तपोमूर्ति के सामने स्वतः श्रद्धावनत हो जाता है। जब से महावीर गृहत्याग करके अनगार बनते हैं तभी से उनका विहार प्रारंभ होता है। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भावना नामक तृतीय चूला में यह बताया गया है कि महावीर तीस वर्ष तक घर में रहने के बाद अपने माता-पिता की मृत्यु होने पर सब कुछ त्याग कर अनगार बने अर्थात् सर्वविरत श्रमण हुए। जब उन्होंने दीक्षा ग्रहण की तब उनके पास केवल एक वस्त्र था। दीक्षा के समय उन्होंने सामायिक चारित्र ग्रहण किया अर्थात् सर्व सावद्य योग का प्रत्याख्यान किया—सब प्रकार की सदोष प्रवृत्तियों का त्याग किया एवं सब प्रकार के उपसर्ग सहन करने की प्रतिज्ञा की। उन्होंने इस प्रकार का जीवन जीना प्रारंभ किया कि जिसमें कषायजन्य हिंसादि दोषों की तनिक भी संभावना न रहे।

उपधानश्रुत के प्रथम उद्देश की पहली ही गाथा में बतलाया गया है कि महावीर प्रव्रज्या ग्रहण कर तुरन्त ही विहार (पदयात्रा) के लिए चल पड़े। आगे की गाथाओं में कहा गया है कि उस समय उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मेरे पास जो यह एक वस्त्र है इससे मैं अपने शरीर का आच्छादन नहीं करूँगा। इतना ही नहीं, कुछ समय बाद (तेरह महीने बाद) उन्होंने उस वस्त्र का भी त्याग कर दिया एवं सर्वथा अचेल होकर भ्रमण करने लगे। तब फिर दीक्षा के समय महावीर ने अपने पास जो वस्त्र (एक शाटक) रखा वह किसलिए ? वह वस्त्र संभवतः प्रव्रज्या की तद्देशीय प्रणाली के अनुसार वे अपने कंधे पर रखे रहे अथवा उससे पोंछने आदि का काम लेते रहे। चाहे कुछ भी हुआ हो, इतना निश्चित है कि महावीर प्रव्रज्या लेने के साथ ही अचेल अर्थात् नग्न हो गए तथा मृत्युपर्यन्त नग्न ही रहे एवं किसी भी रूप में अपने शरीर के लिए वस्त्र का उपयोग नहीं किया।

दीक्षा के पूर्व शरीर पर चंदनादि का विलेपन किया गया था, अतः महावीर पर चार मास से भी अधिक समय तक स्थान-स्थान पर नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं का आक्रमण होता रहा एवं उनके शरीर को विविध प्रकार से कष्ट पहुँचता रहा। वे चलते समय पुरुष-प्रमाण मार्ग का अवलोकन करते एवं सावधानी पूर्वक चलते। उन्हें देखकर भयभीत हुए बालक उन्हें मार-मार कर आक्रन्दन करते। मार्ग में अभिवादन होने पर अथवा मार पड़ने पर वे समान भाव से रहते व किसी से कुछ नहीं कहते। उन्हें आख्यान, नृत्य, गीत, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध आदि में कोई

रस नहीं था। वे असह्य कष्टों को भी शान्ति से सहन करते हुए आगे बढ़ते चलते। उन्होंने दीक्षा लेने के दो वर्ष से भी पहले से ही शीतल (सचित्त) जल का त्याग कर रखा था। उन्होंने यह जान लिया था कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय सचित्त हैं—चेतन हैं, अतः वे इन सब से बचकर विचरण करते। विहार में किसी सचित्त काय की हिंसा न हो, इसका वे पूरा ध्यान रखते। उन्होंने स्वयं हिंसा न करने तथा दूसरों से हिंसा न करवाने का व्रत ग्रहण कर रखा था। स्त्रियों को (पुरुषों की अपेक्षा से) सर्व पापकर्म की जड़ समझ कर उनका उस संयमी ने सर्वथा परित्याग कर रखा था। वे आधाकर्म अर्थात् अपने निमित्त से बने हुए आहारादि का सेवन न करते। जिसमें तनिक भी पाप की संभावना होती वैसा कोई भी कार्य न करते हुए निर्दोष आहारादि का सेवन करते। वे न परवस्त्र का (पोंछने आदि में) उपयोग करते, न परपात्र (भोजनादि के लिए) काम में लाते। मानापमान का त्याग कर अदीन-मनस्क होकर भिक्षा के लिए जाते एवं अशन और पान की मात्रा का पूरा ध्यान रखते हुए रसों में गृद्ध न होकर जो कुछ मिल जाता, खा लेते। वे न आँखों का प्रमार्जन करते, न शरीर को खुजलाते। रास्ते चलते इधर-उधर बहुत कम देखते। पूछने पर अल्प उत्तर देते व यतनापूर्वक चलते।

श्रमण भगवान् महावीर विचरण करते हुए गृह, पण्यशाला (दुकान), पालितस्थान (कारखाना), पलालपुंज, आगन्तार (अतिथिगृह), आरामागार, श्मशान, शून्यागार, वृक्षमूल आदि

स्थानों में ठहरते एवं अप्रमत्त होकर रात-दिन ध्यान करते। निद्रा की तनिक भी कामना नहीं करते। अनिच्छा से थोड़ी नींद आ जाने पर खड़े होकर आत्मा को जागरूक करते। पुनः निद्रा आने पर बाहर निकल कर मुहूर्त-पर्यन्त चंक्रमण कर लेते। उन्हें वसति-स्थानों में संसर्पिप्राणियों, पक्षियों, दुराचारियों, ग्राम-रक्षकों, शस्त्रधारियों द्वारा अनेक प्रकार के कष्ट प्राप्त होते। इह-लोक व परलोक-संबंधी नाना प्रकार के भय तथा अनुकूल व प्रतिकूल इन्द्रिय-विषय उपस्थित होनेपर वे रति व अरति का अभिभव करके मध्यस्थ होकर सब कुछ सह लेते। ध्यानस्थ महावीर को कोई आकर कुछ पूछता और उत्तर न मिलने पर क्रुद्ध हो जाता। कभी-कभी भगवान् 'मैं भिक्षुक हूँ' एसा उत्तर भी दे देते, किन्तु प्रायः मौन होकर ध्यानमग्न ही रहते। शिशिर ऋतु में जब अन्य लोग शीतल वायु से कांपते, यहाँ तक कि अनगार अर्थात् साधु भी निर्वात स्थान की खोज में रहते, संघाटी से अपना शरीर ढंकते, कोई-कोई तो इंधन भी जला लेते तब भी भगवान् महावीर खुले स्थान में ही रहकर शीत सहन करते।

महावीर को सर्वत्र परीषह सहन करने पड़े। उन्हें विशेष रूप से लाढ़ देश में जो कष्ट उठाने पड़े वे भयंकर थे। उन्होंने लाढ़ देश के वज्रभूमि और शुभ्रभूमि नामक दोनों दुश्चर प्रदेशों में विचरण किया। यहाँ उन पर अनेक असह्य आपत्तियाँ आईं। यहाँ के निवासियों ने उन्हें बुरी तरह से मारा-पीटा। यहाँ के कुत्तों ने उन्हें खूब काटा। लोगों ने कुत्तों को भगाने की बजाय 'छू छू' करके महावीर की ओर दौड़ाया। यहाँ की वज्रभूमि ऐसी थी

कि लाठी लेकर चलने वाले श्रमणों को भी कुत्ते काट खाते थे। महावीर ने तो लाठी का भी त्याग कर रखा था, अतः कुत्तों ने उन्हें अत्यधिक परेशान किया। कई बार उन्हें बहुत दूर तक गाँव मिलता ही नहीं फिर भी वे विहार करते हुए व्याकुल न होते। कई बार गाँव के लोग पहले ही उनके पास आकर उन्हें वहाँ से भाग जाने के लिए कहते। कई बार ऐसा भी होता कि गाँव के लोग उन्हें 'मारो-मारो' की आवाज करके लाठियों, भालों, पत्थरों, मुक्कों से मारते, उनके शरीर पर घाव कर देते, उन पर धूलि फेंकते, उन्हें धक्के लगाकर गिरा देते। परीषहों का हृदय से स्वागत करने वाले महान् संयमी श्रमण भगवान् महावीर अपनी काया का मोह छोड़कर इन सब उपद्रवों को वीरतापूर्वक सहन करते एवं संयममार्ग में अधिक दृढ़तापूर्वक अग्रसर होते। यही महावीर की शूरता थी। वे केवल आने वाले उपसर्गों का स्वागत ही नहीं करते अपितु कर्मनिर्जरा के निमित्त नये-नये उपसर्गों को आमन्त्रित भी करते। यही उनकी महावीरता थी।

रोगान्तक हो या न हो, महावीर ने चिकित्सा की कामना कभी नहीं की। वे हमेशा अवमौदर्य अर्थात् अल्पाहार करते। स्नान, संशुद्धि, अभ्यंगन, प्रक्षालन आदि से सदा दूर रहते। इन्द्रियों के विषयों के प्रति उनकी तनिक भी आसक्ति न थी। वे ठंड के दिनों में छाया में व गरमी के दिनों में धूप में रहकर ध्यान धरते। ओदन, कुल्माष आदि रूक्ष पदार्थों का आहार करते। कई बार आधा महीना अथवा पूरा महीना बिना पानी के ही बिता देते। कभी-कभी दो मास से भी अधिक, यहाँ तक

कि छः मास तक बिना पानी ही विचरण करते रहते। कभी बासी अन्न मिल जाता तो खा लेते और वह भी दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पाँच दिन में एक बार। वे अपने आहार के लिए न स्वयं पाप करते, न दूसरों से करवाते और न करने वाले का अनुमोदन ही करते। दूसरों के निमित्त से बने हुए सुविशुद्ध आहार का अनासक्त भाव से सेवन करते। गोचरी अर्थात् आहार की गवेषणा के लिए जाते-आते मार्ग में किन्हीं पशु-पक्षियों को किसी प्रकार कष्ट न हो, इसका पूरा ध्यान रखते। अपने आहार के कारण किसी ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि आदि की वृत्ति का उच्छेद न हो, किसी की अप्रीति न हो, किसी को अन्तराय न पहुँचे--इसकी पूरी सावधानी रखते। रूखा-सूखा जो कुछ मिल जाता, अनासक्तिपूर्वक खा लेते। कुछ प्राप्त न होने की अवस्था में भी मन में तनिक भी क्रोध अथवा निराशा न लाते। वे निष्कषाय, अनासक्त एवं मूर्च्छारहित थे तथा छद्मस्थ अर्थात् अपूर्ण ज्ञानी होते हुए भी प्रमाद-मुक्त थे। वे स्वतः तत्त्व का अभिगम कर आत्मशुद्धिपूर्वक अभिनिवृत्त हुए एवं यावज्जीवन मोह, माया व ममता का त्याग कर समभाव के आराधक बने।

अचेलकत्व व सचेलकत्व :

वट्टकेराचार्यकृत मूलाचार के समयसाराधिकार में मुनि के लिए चार प्रकार का लिंगकल्प (आचारचिह्न) बताया गया है : १. अचेलकत्व, २. लोच, ३. व्युत्सृष्टशरीरता, ४. प्रति-लेखन। अचेलकत्व का अर्थ है वस्त्रादि सर्व परिग्रह का परिहार।

लोच का अर्थ है अपने अथवा दूसरे के हाथों से मस्तकादि के केशों का अपनयन। व्युत्सृष्टशरीरता का अर्थ है स्नान-अभ्यंगन-अंजन-परिमर्दन आदि सर्व संस्कारों का अभाव। प्रतिलेखन का अर्थ है मयूरपिच्छ का ग्रहण। अचेलकत्व निःसंगता अर्थात् अनासक्ति का चिह्न है। लोच सद्भावना का संकेत है। व्युत्सृष्ट-शरीरता अपरागता का प्रतीक है। प्रतिलेखन दयाप्रतिपालन का चिह्न है। यह चार प्रकार का लिंगकल्प चारित्रोपकारक होने के कारण आचरणीय है।

बृहत्कल्प के छठे उद्देश के अन्त में छः प्रकार की कल्प-स्थिति (आचारमर्यादा) बतलाई गई है: १. सामायिकसंयत-कल्पस्थिति, २. छेदोपस्थापनीयसंयत-कल्पस्थिति, ३. निर्विश-मान-कल्पस्थिति, ४. निर्विष्टकायिक-कल्पस्थिति, ५. जिन-कल्प-स्थिति, ६. स्थविर-कल्पस्थिति। सर्वसावद्ययोगविरतिरूप सामा-यिक स्वीकार करने वाला सामायिकसंयत कहलाता है। पूर्व पर्याय अर्थात् पहले की साधु-अवस्था का छेद अर्थात् नाश (अथवा कमी) करके संयम की पुनः स्थापना करने योग्य श्रमण छेदोपस्थापनीयसंयत कहलाता है। इस कल्पस्थिति में मुनि-जीवन का अध्याय पुनः प्रारंभ होता है (अथवा पुनः आगे बढ़ता है)। परिहारविशुद्धि-कल्प (तपविशेष) का सेवन करने वाला श्रमण निर्विशमान कहा जाता है। जिसने परिहारविशु-द्धिक तप का सेवन कर लिया हो उसे निर्विष्टकायिक कहते हैं। गच्छ से निर्गत अर्थात् श्रमणसंघ का त्याग कर एकाकी संयम की साधना करने वाले साधुविशेष जिन अर्थात् जिनकल्पिक कहलाते

हैं। गच्छप्रतिबद्ध अर्थात् श्रमणसंघ में रहकर संयम की आराधना करने वाले आचार्य आदि स्थविर अर्थात् स्थविरकल्पिक कहे जाते हैं। यही कारण है कि जिनकल्पिकों व स्थविरकल्पिकों की आचारमर्यादा में अन्तर है। जिनकल्पिक अचेलकधर्म का आचरण करते हैं जबकि स्थविरकल्पिक सचेलकधर्म का पालन करते हैं।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के धुत नामक छठे अध्ययन में स्पष्ट बतलाया गया है कि कुछ अनगार ऐसे भी होते हैं जो संयम ग्रहण करने के बाद एकाग्रचित्त होकर सब प्रकार की आसक्ति का त्याग कर एकत्व-भावना का अवलम्बन लेकर मुण्ड होकर अचेल बन जाते हैं अर्थात् वस्त्र का भी त्याग कर देते हैं तथा आहार में भी क्रमशः कमी करते हुए सर्व कष्टों को सहन कर अपने कर्मों का क्षय करते हैं। ऐसे मुनियों को वस्त्र फटने की, नये लाने की, सूई-धागा जुटाने की, वस्त्र सीने की कोई चिन्ता नहीं रहती। वे अपने को लघु अर्थात् हलका (भारमुक्त) तथा सहज तप का भागी मानते हुए सब प्रकार के कष्टों को समभावपूर्वक सहन करते हैं। विमोक्ष नामक आठवें अध्ययन में अचेलक मुनि के विषय में कहा गया है कि यदि उसके मन में यह विचार आए कि मैं नग्नताजन्य शीतादि कष्टों को तो सहन कर सकता हूँ किन्तु लज्जानिवारण करना मेरे लिए शक्य नहीं, तो उसे कटिबन्धन धारण कर लेना चाहिए। अचेलक अर्थात् नग्न मुनि को सचेलक अर्थात् वस्त्रधारी मुनि के प्रति हीनभाव नहीं रखना चाहिए। इसी प्रकार सचेलक मुनि को अचेलक मुनि के प्रति

तुच्छता की भावना नहीं रखनी चाहिए। अचेलक व सचेलक मुनियों को एक-दूसरे की निन्दा नहीं करनी चाहिए। निन्दक मुनि को निर्ग्रन्थधर्म का अनधिकारी कहा गया है। वह संयम का सम्यक्तया पालन नहीं कर सकता—आत्मसाधना की निर्दोष आराधना नहीं कर सकता। अचेलक व सचेलक मुनियों को अपनी-अपनी आचार-मर्यादा में रहकर निर्ग्रन्थ-धर्म का पालन करना चाहिए।

वस्त्रमर्यादा :

आचारांग में एकवस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी एवं त्रिवस्त्रधारी निर्ग्रंथों तथा चतुर्वस्त्रधारी निर्ग्रंथियों का उल्लेख है। जो भिक्षु तीन वस्त्र रखने वाला है उसे चौथे वस्त्र की कामना अथवा याचना नहीं करनी चाहिए। जो वस्त्र उसे कल्प्य हैं उन्हीं की कामना एवं याचना करनी चाहिए, अकल्प्य की नहीं। कल्प्य वस्त्र जैसे भी मिलें, बिना किसी प्रकार का संस्कार किये धारण कर लेने चाहिए। उन्हें धोना अथवा रंगना नहीं चाहिए। यही बात दो वस्त्रधारी एवं एक वस्त्रधारी भिक्षु के विषय में भी समझनी चाहिए। तरुण भिक्षु के लिए एक वस्त्र धारण करने का विधान है। भिक्षुणी के लिए चार वस्त्र—संघाटियाँ रखने का विधान किया गया है जिनका नाप इस प्रकार है : एक दो हाथ की, दो तीन-तीन हाथ की और एक चार हाथ की (लम्बी)। दो हाथ की संघाटी उपाश्रय में पहनने के लिए, तीन-तीन हाथ की दो संघाटियों में से एक भिक्षाचर्या के समय धारण करने के

लिए तथा दूसरी शौच जाने के समय पहनने के लिए व चार हाथ की संघाटी समवसरण (धर्मसभा) में सारा शरीर ढंकने के लिए है, ऐसा टीकाकारों का व्याख्यान है। यहाँ भिक्षुणियों के लिए जिन चार वस्त्रों के धारण का विधान किया गया है उनका 'संघाटी' (साड़ी अथवा चादर) शब्द से निर्देश किया गया है। टीकाकारों ने भी इनका उपयोग शरीर पर लपेटने अर्थात् ओढ़ने के रूप में ही बताया है। इससे प्रतीत होता है कि इन चारों वस्त्रों का उपयोग विभिन्न अवसरों पर ओढ़ने के रूप में करना अभीष्ट है, पहनने के रूप में नहीं। अतः इन्हें साध्वियों के उत्तरीय वस्त्र अर्थात् साड़ी अथवा चादर के रूप में समझना चाहिए, अन्तरीय वस्त्र अर्थात् लहंगा या धोती के रूप में नहीं। दूसरी बात यह है कि दो हाथ और यहाँ तक कि चार हाथ लम्बा वस्त्र ऊपर से नीचे तक पूरे शरीर पर धारण भी कैसे किया जा सकता है। अतएव भिक्षुणियों के लिए ऊपर जिन चार वस्त्रों के ग्रहण एवं धारण का विधान किया गया है उनमें अन्तरीय वस्त्र का समावेश नहीं होता, ऐसा समझना चाहिए। भिक्षुओं के विषय में ऐसा कुछ नहीं है। वे एक वस्त्र का उपयोग अन्तरीय के रूप में कर सकते हैं, दो का अन्तरीय व उत्तरीय के रूप में कर सकते हैं, आदि। यहाँ तक कि वे अचेल अर्थात् निर्वस्त्र भी रह सकते हैं। स्त्री-जातिगत सहज मर्यादाओं के कारण साध्वियों के लिए वैसा करना शक्य नहीं। उन्हें अपने संयम की रक्षा के लिए अमुक साधनों का उपयोग करना ही पड़ता है।

बृहत्कल्प सूत्र के तृतीय उद्देश में यह बतलाया गया है कि

निर्ग्रन्थनि-ग्रंन्थियों को कृत्स्न वस्त्र का संग्रह एवं उपयोग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार उन्हें अभिन्न वस्त्र काम में नहीं लेना चाहिए। यहाँ कृत्स्न वस्त्र का अर्थ है रंग आदि से जिसका आकार आकर्षक बनाया गया हो वैसा सुन्दर वस्त्र। अभिन्न वस्त्र का अर्थ है बिना फाड़ा पूरा वस्त्र। इस सूत्र में आचारांगोल्लिखित वस्त्र-मर्यादा का नये ही रूप में निर्देश किया गया है। इसमें बताया गया है कि नयी दीक्षा लेने वाले साधु को रजोहरण, गोच्छक, प्रतिग्रह अर्थात् पात्र एवं तीन पूरे वस्त्र (जिनके आवश्यक उपकरण बन सकें) लेकर प्रव्रजित होना चाहिए। पूर्व प्रव्रजित साधुको किसी कारण से पुनः दीक्षा ग्रहण करने का प्रसंग उपस्थित होने पर नयी सामग्री न लेते हुए अपनी पुरानी सामग्री के साथ ही दीक्षित होना चाहिए। नवदीक्षित साध्वी के लिए चार पूरे वस्त्रों के ग्रहण का विधान है। शेष बातें साधु के ही समान समझनी चाहिए। साधु के लिए अवग्रहानन्तक अर्थात् गुह्यदेशपिधानकरूप कच्छा एवं अवग्रहपट्टक अर्थात् गुह्यदेशाच्छादकरूप पट्टा रखना वर्ज्य है। साध्वी को इनका उपयोग करना चाहिए।

बृहत्कल्प के द्वितीय उद्देश मे कहा गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को पांच प्रकार के वस्त्रों का उपयोग करना कल्प्य है : जांगिक, भांगिक, सानक, पोतक और तिरीटपट्टक। जंगम अर्थात् त्रस प्राणी के अवयवों (बालों) से निष्पन्न वस्त्र जांगिक कहा जाता है। अलसी का वस्त्र भांगिक, सन का वस्त्र सानक, कपास का वस्त्र पोतक तथा तिरीट नामक वृक्ष की छाल का वस्त्र तिरीटपट्टक कहलाता है। रजोहरण के

लिए निम्नोक्त पांच प्रकार के धागे कल्प्य हैं : औणिक, औष्ट्रिक, सानक, वच्चकचिप्पक और मुंजचिप्पक। औणिक अर्थात् ऊन के, औष्ट्रिक अर्थात् ऊँट के बालों के, सानक अर्थात् सन की छाल के, वच्चकचिप्पक अर्थात् तृणविशेष की कुट्टी के और मुंजचिप्पक अर्थात् मूंज की कुट्टी के।

श्रमण-श्रमणी कितने एवं किस प्रकार के वस्त्रों का उपयोग कर सकते हैं, इसका विचार करने के बाद यह सोचना आवश्यक है कि उन्हें वस्त्र किस प्रकार प्राप्त करने चाहिए ?

वस्त्र की गवेषणा :

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम चूला के पांचवें अध्ययन में यह बताया है कि वस्त्र की गवेषणा के लिए अर्ध योजन से अधिक नहीं जाना चाहिए। वस्त्र की गवेषणा करते समय आहार की गवेषणा के समान पूरी सावधानी रखनी चाहिए। अपने निमित्त खरीदा गया, धोया गया आदि दोषों से युक्त वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए। बहुमूल्य वस्त्र की न याचना करनी चाहिए, न प्राप्त होने पर ग्रहण ही करना चाहिए। हिंसादि दोषों से दूषित वस्त्र की तनिक भी चाह नहीं करनी चाहिए। निर्दोष एवं सादे वस्त्र की कामना, याचना एवं ग्रहणता श्रमण-श्रमणियों के लिए कल्प्य है। वस्त्र को धोना तथा रंगना निषिद्ध है। भिक्षु अन्य भिक्षु को दिया हुआ वस्त्र वापिस नहीं लेते। अतः अन्य के वस्त्र को अपना बना लेने की भावना से किसी श्रमण-श्रमणी को अन्य श्रमण-श्रमणी से वस्त्र नहीं मांगना चाहिए। विहार करते

समय वस्त्रों की चोरी के भय से आड़ा-टेढ़ा मार्ग न लेते हुए निर्भय व निर्मम होकर विचरण करना चाहिए। सारांश यह है कि सर्वविरत श्रमण-श्रमणी को वस्त्र पर न किसी प्रकार का ममत्व रखना चाहिए, न वस्त्रनिमित्तक किसी प्रकार की हिंसा करनी-करवानी चाहिए और न इस प्रकार की हिंसा का किसी रूप में समर्थन ही करना चाहिए। वस्त्र की गवेषणा करते समय तथा वस्त्र का उपयोग करते हुए इन सब बातों का पूरा ध्यान रखना चाहिए।

पात्र की गवेषणा व उपयोग :

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम चूला के छठे अध्ययन में बतलाया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को अलाबु, काष्ठ व मिट्टी के पात्र रखना कल्प्य है तथा धातु के पात्र रखना अकल्प्य है। उन्हें बहुमूल्य वस्त्र की तरह बहुमूल्य पात्र भी नहीं रखने चाहिए। तरुण साधु के लिए केवल एक पात्र रखने का विधान है। पात्र की गवेषणा व उपयोग इस ढंग से विहित है कि उसमें किसी प्रकार की हिंसा न हो। बृहत्कल्पसूत्र के प्रथम उद्देश में निर्ग्रन्थियों के लिए घटीमात्रक अर्थात् घड़ा रखने एवं उसका उपयोग करने का विधान है जब कि निर्ग्रन्थों के लिए वैसा करने का निषेध है। व्यवहार सूत्र के आठवें उद्देश में वृद्ध साधु के लिए जो उपकरण कल्प्य बताये गये हैं उनमें भांड अर्थात् घड़ा तथा मात्रिका अर्थात् पेशाब का बरतन भी समाविष्ट है। वस्त्र की गवेषणा की तरह पात्र की गवेषणा के लिए भी अर्ध

योजन से अधिक दूर नहीं जाना चाहिए। अपने निमित्त खरीदा गया पात्र ग्रहण नहीं करना चाहिए। वर्णयुक्त पात्र को विवर्ण नहीं करना चाहिए और न विवर्ण पात्र को वर्णयुक्त ही करना चाहिए। इसी प्रकार सुरभिगन्ध पात्र को दुरभिगन्ध एवं दुरभिगन्ध पात्र को सुरभिगन्ध नहीं बनाना चाहिए।

आहार :

आवश्यक सूत्र में मुनि के ग्रहण करने योग्य चौदह प्रकार के पदार्थों का उल्लेख है : १. अशन, २. पान, ३. खादिम, ४. स्वादिम, ५. वस्त्र, ६. पात्र, ७. कम्बल, ८. पादप्रोंछन, ९. पीठ, १०. फलक, ११. शय्या, १२. संस्तारक, १३. औषध, १४. भेषज। रोटी, चावल आदि सामान्य खाद्य पदार्थ अशन कहलाते हैं। जल, दूध आदि पेय पदार्थ पान के नाम से प्रसिद्ध हैं। मिष्ठान्न, मेवा आदि सुस्वादु पदार्थ खादिम कहे जाते हैं। लौंग, सुपारी आदि सुवासित पदार्थों का समावेश स्वादिम में होता है। वस्त्र का अर्थ है पहनने योग्य कपड़े। पात्र का अर्थ है लकड़ी, मिट्टी एवं तुम्बे के बरतन। ऊन आदि का बना हुआ चादर कम्बल कहलाता है। रजोहरण को पादप्रोंछन कहते हैं। बैठने योग्य चौकी को पीठ कहते हैं। सोने योग्य पट्ट को फलक कहते हैं। ठहरने का मकान आदि शय्या कहलाता है। बिछाने का घास आदि संस्तारक कहलाता है। एक ही वस्तु से बनी हुई दवाई औषध तथा अनेक वस्तुओं के मिश्रण से बनी हुई दवाई भेषज कहलाती है। इन चौदह प्रकार के पदार्थों में से

प्रारंभ के चार एवं अन्त के दो—ये छः खाने-पीने के काम में आते हैं अतः इन्हें आहार के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। इन पदार्थों में तत्कालीन स्मृतिमूलक स्वाध्याय की पद्धति के कारण पुस्तकादि का समावेश नहीं किया गया है। ये पदार्थ स्थविरकल्पिक अर्थात् सचेलक साधुओं की दृष्टि से हैं। जिन-कल्पित अर्थात् अचेलक साधुओं की दृष्टि से वस्त्रादि अकल्प्य पदार्थों की कमी कर लेनी चाहिए।

आहार क्यों ?

उत्तराध्ययन सूत्र के सामाचारी नामक छब्बीसवें अध्ययन में आहार ग्रहण करने के छः कारण बतलाये गये हैं: १. वेदना अर्थात् क्षुधा की शान्ति के लिए, २. वैयावृत्य अर्थात् आचार्यादि की सेवा के लिए, ३. ईर्यापथ अर्थात् मार्ग में गमनागमन की निर्दोष प्रवृत्ति के लिए, ४. संयम अर्थात् मुनिधर्म की रक्षा के लिए, ५. प्राणप्रत्यय अर्थात् जीवनरक्षा के लिए, ६. धर्मचिन्ता अर्थात् स्वाध्यायादि के लिए। इनमें से किसी भी कारण की उपस्थिति में मुनि को आहार की गवेषणा करनी चाहिए। इन कारणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, मुख्य एवं केन्द्रीय कारण संयम-रक्षा का अर्थात् मुनिव्रत की सुरक्षा का है। मुनि के लिए आहार इसीलिए ग्रहणीय बताया गया है कि इससे उसके व्रत-पालन में आवश्यक सहायता मिलती है। जब आहार का यह प्रयोजन समाप्त हो जाता है अर्थात् आहार संयम की साधना में किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकता तब मुनि आहार का

परित्याग कर समाधिमरण को प्राप्त होता है। यही बात मुनि की अन्य सामग्री के विषय में भी है। मुनि का आहार-विहार संयम के लिए है। मुनि संयमार्थ ही शरीर धारण करता है। जब उसका शरीर इस उद्देश्य की पूर्ति करने में असमर्थता का अनुभव करने लगता है तब वह आहारादि का परित्याग कर समभावपूर्वक शरीर से मुक्ति प्राप्त करता है। चूँकि वह क्षुधा परीषह को सहन नहीं कर सकता अर्थात् भूख के कष्ट की उपस्थिति में व्रतों की आराधना नहीं कर सकता अतएव आहारादि ग्रहण करता है। जहाँ तक उसके लिए बुभुक्षितावस्था में व्रताराधना शक्य होती है वहाँ तक वह आहार ग्रहण नहीं करता। सशक्त शरीर के रहते हुए आहारादि का त्याग कर अथवा अन्य प्रकार से मृत्यु प्राप्त करना जैन आचारशास्त्र में सर्वथा निषिद्ध है। इस प्रकार की मृत्यु कषायमूलक होने के कारण महान् कर्मबन्ध का कारण बनती है। उपयुक्त समय पर समभावपूर्वक प्राप्त की जाने वाली मृत्यु ही जैन आचारशास्त्र में उपादेय मानी गई है। इस प्रकार की मृत्यु से आराधक अपने लक्ष्य के समीप पहुँचता है अर्थात् कर्मों से छुटकारा पाता है।

आहार क्यों नहीं ?

जिस प्रकार आहार ग्रहण करने के उपर्युक्त छः कारण बताये गये हैं उसी प्रकार आहार छोड़ने के भी निम्नोक्त छः कारण गिनाये गये हैं : १. आतंक अर्थात् भयंकर रोग उत्पन्न होने पर, २. उपसर्ग अर्थात् आकस्मिक संकट आने पर, ३. ब्रह्म-

चर्य अर्थात् शील की रक्षा के लिए, ४. प्राणिदया अर्थात् जीवों की रक्षा के लिए, ५. तप अर्थात् तपस्या के लिए, ६. संलेखना अर्थात् समाधिमरण के लिए। इन कारणों के मूल में भी व्रताराधना ही रही हुई है। भयंकर रोग उत्पन्न होने पर अमुक प्रकार के आहार का त्याग आवश्यक हो जाता है क्योंकि वैसा न करने पर शरीर स्वस्थ नहीं हो सकता और शारीरिक स्वास्थ्य के अभाव में व्रतों की आराधना नहीं हो सकती। आकस्मिक संकट आने पर भी आहारत्याग आवश्यक हो जाता है क्योंकि वैसा न करने पर प्रतिकूल परिस्थिति के कारण कभी-कभी मुनिव्रत खतरे में पड़ जाता है। जिस आहार से शीलव्रत का भंग होने का भय हो वह आहार भी मुनि के लिए त्याज्य है क्योंकि ऐसे आहार से व्रत-विराधना होती है। जीववध का भय होने पर भी मुनि को आहार का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि प्राणिदया मुनि का मुख्य धर्म है। तप की आराधना के लिए भी मुनि आहार का त्याग करता है क्योंकि विवेकपूर्ण तपस्या से संयम की सुरक्षा होती है। मृत्यु का समय उपस्थित होने पर भी मुनि आहारत्यागपूर्वक मारणान्तिकी संलेखना अर्थात् संथारा करता है एवं समाधियुक्त अर्थात् समभावपूर्वक मरण का वरण करता है। ऐसी मृत्यु मुनि के लिए अभीष्ट है। इस प्रकार मुनि का आहारत्याग भी आहारग्रहण के ही समान व्रतरक्षा के लिए ही है—संयमरक्षा के निमित्त ही है।

विशुद्ध आहार :

भिक्षु-भिक्षुणी को ऐसी कोई वस्तु स्वीकार करना कल्प्य

नहीं जिसमें उसके निमित्त किसी प्रकार की हिंसा हुई हो अथवा होने की संभावना हो। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम चूला के पिण्डैषणा नामक प्रथम अध्ययन में आहारविषयक विविध प्रकार की हिंसा की संभावनाओं का विचार किया गया है। उसमें बतलाया गया है कि जिसमें प्राण होने की तनिक भी शंका अथवा संभावना हो वैसा आहार भिक्षु या भिक्षुणी ग्रहण न करे। कदाचित् गलती से सचित्त आहार पात्र में आ भी जाय तो उसका यतनापूर्वक परित्याग करे। जब सचित्त और अचित्त का पृथक्करण शक्य न हो तब समग्र आहार का त्याग कर दे। जिसके पूर्ण रूप से अचित्त होने का निश्चय हो वही वस्तु ग्रहण करे एवं उपयोग में ले।

यदि गृहस्थ ने मुनि के निमित्त हिंसा कर के आहार तैयार किया हो अथवा किसी से छीन कर, उधार लेकर, चोरी करके या अन्य अवैध उपाय से प्राप्त किया हो तो उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। किसी अन्य को दानादि के रूप में देने के लिए बनाया हुआ आहार भी ग्रहण करना निषिद्ध है।

उत्सवादि अवसरों पर जब तक अन्य याचकों को दान देना समाप्त न हो जाय तब तक श्रमण-श्रमणी को भिक्षा नहीं लेनी चाहिए। जहां संखडि अर्थात् सामूहिक भोजन—भोज होता हो वहाँ श्रमण-श्रमणी को आहारार्थ नहीं जाना चाहिए। ऐसे स्थानों पर भिक्षार्थ जाने पर अनेक दोष लगते हैं जिससे संयम की विराधना होती है।

रसोई बन रही हो अथवा कोई अन्य कार्य हो रहा हो तो

भिक्षु-भिक्षुणी को गृहपति के घर में प्रवेश न करते हुए एकान्त में खड़े रहना चाहिए एवं उस कार्य की समाप्ति होने पर अन्दर जाना चाहिए। गृहस्थ के घर का द्वार बिना अनुमति के व बिना यतना के खोलना निषिद्ध है। अन्य भिक्षार्थी यदि पहले से ही गृहस्थ के घर में गये हुए हों तो उनके निकलने पर ही अन्दर जाना कल्प्य है।

भोजन करते हुए यदि कोई सचित्त जलादि से हाथ साफ कर भिक्षा दे तो नही लेना चाहिए। सचित्त शिलापट्ट पर पीसी हुई अथवा कूटी हुई वस्तु त्याज्य है। इसी प्रकार अग्नि पर रखा हुआ पदार्थ भी अग्राह्य है। किसी ऊंचे स्थान पर रखी हुई वस्तु को भी सदोष समझ कर नहीं लेना चाहिए। किसी भी दातव्य पदार्थ का सम्पर्क यदि पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक एवं त्रसकायिक जीवों से हो तो वह त्याज्य है। चावल का धोवन आदि जब तक अचित्त न हो जाय, अग्राह्य है। कच्ची वस्तु भी सचित्त होने के कारण अकल्प्य है। तात्पर्य यह है कि कोई भी पदार्थ जब तक अचित्त न हो जाय, नहीं लेना चाहिए।

जिस ग्राम, नगर आदि में श्रमण-श्रमणी के परिचित सम्बन्धी आदि रहते हों वहाँ अपरिचितों के यहाँ से आहारादि लेना चाहिए। आहारादि ग्रहण करते समय उन्हे इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि दाता ने उनके निमित्त किसी भी प्रकार का उपक्रम न पहले किया हो और न बाद में करने की संभावना हो।

आहार का उपयोग :

मुनि को सुगन्धित एवं दुर्गन्धयुक्त आहार का समभावपूर्वक उपयोग करना चाहिए। यदि पात्र में आवश्यकता से अधिक आहार आ गया हो तो साथी संयतियों को पूछे बिना उसका त्याग नहीं करना चाहिए। उन्हें आवश्यकता होने पर सहर्ष दे देना चाहिए। यदि दूसरों का आहार लेना हो तो उनकी अनुमतिपूर्वक ही लेना चाहिए। यदि आहार साधारण हो अर्थात् पूरे समुदाय के लिए हो तो उसका संविभाग अपनी इच्छानुसार न करते हुए साथियों से पूछ कर उनकी इच्छा का सम्मान करते हुए करना चाहिए। प्राप्त सामग्री को निश्छल भाव से आचार्यादि को दिखाना चाहिए। जिसमें खाने की सामग्री अल्प तथा फेंकने की सामग्री अधिक हो ऐसी वस्तु स्वीकार नहीं करनी चाहिए। मना करने पर भी यदि ऐसी कोई वस्तु पात्र में आ हो जाय तो सार भाग खाकर शेष भाग को निर्दोष स्थान देखकर फेंक देना चाहिए। शक्कर मांगने पर यदि दाता ने गलती से नमक दे दिया हो तो निर्दोष होने पर उसका यथोचित उपयोग कर लेना चाहिए। अधिक होने पर साथियों को दे देना चाहिए। फिर भी बच जाय तो उसका अचित्त स्थान पर परित्याग कर देना चाहिए। रोगी के लिए आहार यदि इस शर्त पर दिया गया हो कि उसके उपयोग में न आने की स्थिति में वापिस कर दिया जाय तो रोगी के अस्वीकृत करने पर उस आहार को तदनुसार लौटा देना चाहिए। इस प्रकार के आहार को अपनी लोलुपता के कारण बीच में ही खाजाना ठीक नहीं।

आहार-सम्बन्धी दोष :

पिण्डनिर्युक्ति आदि में आहारसम्बन्धी ४७ दोषों का उल्लेख है। इनमें से आधाकर्म आदि १६ दोष उद्गम-दोष तथा धात्री आदि १६ दोष उत्पादन-दोष कहे जाते हैं। ये ३२ दोष गवेषणा से सम्बन्धित हैं। शंकित आदि १० दोष ग्रहणैषणा-विषयक हैं। संयोजना आदि शेष ५ दोषों का सम्बन्ध ग्रासैषणा से है। आहार की खोज करते समय गृहस्थ के निमित्त से लगने वाले दोष उद्गम-दोष तथा साधु की खुद की ओर से लगने वाले दोष उत्पादन-दोष कहलाते हैं। आहार लेते समय गृहस्थ तथा साधु दोनों के निमित्त से लगने वाले दोष ग्रहणैषणा के दोष कहलाते हैं। आहार खाते समय साधु की ही ओर से लगने वाले दोष ग्रासैषणा के दोष कहलाते हैं।

गवेषणा के उद्गम-दोष—निम्नोक्त १६ दोष आहार की गवेषणा के उद्गम-दोष हैं: १. आधाकर्म—विशेष साधु के उद्देश्य से आहार बनाना, २. औद्देशिक—सामान्य भिक्षुओं के उद्देश्य से आहार बनाना, ३. पूतिकर्म—शुद्ध आहार को अशुद्ध आहार से मिश्रित करना, ४. मिश्रजात—अपने लिए व साधु के लिए मिलाकर आहार बनाना, ५. स्थापना—साधु के लिए कोई खाद्य पदार्थ अलग रख देना, ६. प्राभृतिका—साधु के निमित्त से अपना भोजन का कार्यक्रम बदल देना, ७. प्रादुष्करण—अन्धकार दूर करने के लिए दीपक आदि का प्रयोग कर आहार देना, ८. क्रीत—साधु के लिए आहार खरीद कर लाना, ९. प्रामित्य—साधु के लिए आहार उधार लाना, १०. परिवर्तित—साधु के लिए

आहार की अदला-बदली करना, ११. अभिहृत—साधु के लिए आहार दूर से लाना, १२. उद्भिन्न—साधु के लिए बंद बरतन का मुँह तोड़ कर घी आदि देना, १३. मालापहृत—ऊँचे स्थान पर चढ़कर आहार उतार कर देना, १४. आच्छेद्य—किसी से छीन कर आहार देना, १५. अनिसृष्ट—साझे की वस्तु साझी की अनुमति के बिना देना, १६. अध्यवपूरक—अपने लिए बनाये जाने वाले भोजन में साधु के लिए थोड़ी मात्रा बढ़ा लेना।

गवेषणा के उत्पादन-दोष—निम्नलिखित १६ दोष आहार की गवेषणा के उत्पादन-दोष हैं : १. धात्री—धाय की भांति गृहस्थ के बालकों की किसी प्रकार की सेवा करके आहार लेना, २. दूती—दूत के समान संदेश पहुँचाकर आहार लेना, ३. निमित्त—शुभाशुभ फल बताकर आहार लेना, ४. आजीव—अपनी जाति, कुल आदि बतलाकर आहार लेना, ५. वनीपक—भिखमंगे की तरह दीनता दिखा कर आहार लेना, ६. चिकित्सा—औषधि आदि का प्रयोग बताकर आहार लेना, ७. क्रोध—गुस्सा करके अथवा शापादि का भय दिखाकर आहार लेना, ८. मान—अभिमानपूर्वक आहार लेना, ९. माया—कपटपूर्वक आहार लेना, १०. लोभ—लालचवश आहार लेना, ११. पूर्वपश्चात्संस्तव—आहार लेने के पहले अथवा बाद में दाता की प्रशंसा करना, १२. विद्या—जप आदि से सिद्ध होने वाली विद्या का प्रयोग करके आहार लेना, १३. मन्त्र—मंत्र-तंत्र का प्रयोग करके आहार लेना, १४. चूर्ण—चूर्ण आदि (वशीकरण) का प्रयोग करके आहार लेना, १५. योग—योगविद्या का प्रदर्शन करके

आहार लेना, १६. मूलकर्म—गर्भस्तम्भ अर्थात् गर्भ रोकने आदि के प्रयोग बताकर आहार लेना।

ग्रहणैषणा के दोष—आहार की ग्रहणैषणा के निम्नोक्त १० दोष हैं : १. शंकित—आधाकर्म आदि दोषों की शंका होने पर आहार लेना, २. म्रक्षित—सचित्त का संसर्ग होनेपर आहार लेना, ३. निक्षिप्त—सचित्त पर रखा हुआ आहार लेना, ४. पिहित—सचित्त से ढका हुआ आहार लेना, ५. संहृत—सचित्त पदार्थ से संपृक्त पात्र से अर्थात् अकल्पनीय वस्तु को निकालने के बाद उसी बरतन से देने पर आहार लेना, ६. दायक—गर्भिणी आदि अनधिकारी दाता से आहार लेना, ७. उन्मिश्र—सचित्त से मिश्रित आहार लेना, ८. अपरिणत—अधूरा पका आहार लेना, ९. लिप्त—साधु के निमित्त से घृत आदि से लिप्त होने वाले पात्र या हाथ से आहार लेना, १०. छर्दित—नीचे गिरता हुआ या बिखरता हुआ आहार लेना।

ग्रासैषणा के दोष—निम्नोक्त ५ दोष ग्रासैषणा के हैं : १. संयोजना—स्वादवर्धन की दृष्टि से खाद्य पदार्थों को परस्पर मिलाना, २. अप्रमाण—मात्रा से अधिक खाना, ३. अंगार—स्वादिष्ट भोजन को प्रशंसा करते हुए खाना, ४. धूम—नीरस भोजन को निन्दा करते हुए खाना, ५. अकारण—संयमरक्षा के निमित्त भोजन न करते हुए बलवृद्धि आदि के लिए भोजन करना।

अनगार-धर्मामृत के पांचवें अध्याय में पिण्डविशुद्धि अर्थात् आहारशुद्धि का विचार करते हुए निम्नोक्त ४६ पिण्डदोषों का

प्रतिपादन किया गया है : १६ उद्गमदोष, १६ उत्पादनदोष, १० शंकितादिदोष व ४ अंगारादिदोष।

एकभक्त :

मूलाचार के मूलगुणाधिकार नामक प्रथम अध्ययन में निर्ग्रन्थ (अचेलक) के जिन २८ मूलगुणों का वर्णन किया गया है उनमें स्थितिभोजन व एकभक्त नामक दो आहारसम्बन्धी गुणों का भी समावेश है। स्थितिभोजन का अर्थ है निर्दोष भूमि पर बिना सहारे खड़े रहकर अंजलिपुट (पाणिपात्र—स्वहस्तपात्र) में आहार करना। एकभक्त का अर्थ है सूर्योदय व सूर्यास्त के बीच केवल एक बार आहार करना। इस प्रकार मूलाचार में मुनि के लिए एकभक्त अर्थात् दिन में एक बार भोजन करने का विधान है और वह भी खड़े-खड़े अपने हाथों में ही खाने का।

दशवैकालिक के महाचारकथा नामक छठे अध्ययन में श्रमण को एकभक्त भोजन करने वाला कहा गया है : एगभत्तं च भोअणं। यद्यपि टीकाकारों ने 'एगभत्तं' का अर्थ दिवाभोजन के रूप में किया है किन्तु शब्दरचना, संदर्भ एवं श्रमणाचार के हार्द को देखते हुए यह अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। एगभत्त—एकभक्त का अर्थ वही होना चाहिए जो मूलाचार के लेखक एवं टीकाकारों ने किया है। दिन में अनेक बार भोजन करने वाले मुनि की अपेक्षा एक बार भोजन करने वाला मुनि श्रमणधर्म का विशेष निर्विघ्नतया एवं निष्ठापूर्वक पालन कर सकता है। अनेक बार आहार करने वाले मुनियों का अधिकांश उपयोगी समय

आहार-पानी की गवेषणा में ही व्यतीत हो जाता है। इसे समय का सदुपयोग नहीं कह सकते। विशेष परिस्थिति में विवशतावश वैसा करना पड़े तो कोई हर्ज नहीं। सामान्यतया दिन में एक बार भोजन करना ही मुनि के लिए श्रेयस्कर है। उत्तराध्ययन के छब्बीसवें अध्ययन (सामाचारी) में भी इसी सिद्धान्त का समर्थन है। जिनके पास पात्र होते हैं वे भोजन के लिए उनका उपयोग करते हैं। जो पात्र नही रखते अर्थात् पाणिपात्र—करपात्र होते हैं वे खड़े-खड़े अपने हाथों में ही आहार करते हैं।

विहार अर्थात् गमनागमन :

निर्ग्रन्थ मुनि वर्षा ऋतु में एक स्थान पर रहते हैं तथा शेष ऋतुओं में पदयात्रा करते हुए स्थान-स्थान पर घूमते रहते हैं। उनकी यह पदयात्रा किस प्रकार निर्दोष एवं संयमानुकूल हो, इसका जैन आचार-ग्रंथों में सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया गया है। विचरने की अहिंसक विधि कैसी होती है, इस पर जैन आचारशास्त्र में पर्याप्त ऊहापोह किया गया है। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम चूला के तृतीय अध्ययन में इस विषय का सुन्दर विवेचन उपलब्ध है। उसमें यह बतलाया गया है कि भिक्षु या भिक्षुणी को जब यह मालूम हो जाय कि वर्षा ऋतु का आगमन हो गया है एवं वर्षा के कारण विविध प्रकार के जीवकायों की सृष्टि हो चुकी है तथा मार्गों में अंकुरादि उत्पन्न होने के कारण गमनागमन दुष्कर हो गया है तब वह किसी निर्दोष स्थान पर वर्षावास अर्थात् चातुर्मास करके ठहर जाय। जहां स्वाध्याय आदि की अनुकूलता

न हो वहाँ न रहे। जब चातुर्मास पूर्ण हो जाय तथा मार्ग जीव-जन्तुओं से साफ हो जाय तब वह संयमपूर्वक विहार प्रारम्भ करदे। चलते हुए किसी प्राणी की हिंसा न हो, इसका पूरा ध्यान रखे। जीव-जन्तुविहीन मार्ग लम्बा हो तो भी उसी का अवलम्बन ले। वह ऐसा मार्ग ग्रहण न करे जिससे जाने पर संयमरक्षा में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित होने की आशंका हो अथवा आगे के ग्रामादि का पता न लगे।

नौकाविहार :

आवश्यकता होने पर नाव का उपयोग करने की अनुमति प्रदान करते हुए कहा गया है कि मुनि को यदि यह मालूम हो कि नाव उसी के निमित्त चलाई जारही है अथवा उसके लिए उसमें किसी प्रकार का संस्कार किया जारहा है तो वह उसका उपयोग न करे। यदि गृहस्थ अपने लिए नाव चला रहा हो तो मुनि उसकी अनुमति लेकर यतनापूर्वक एक ओर बैठकर उस नाव द्वारा पानी पार कर सकता है। नाव में यदि कोई कुछ कार्य करने को कहे तो वह न करे। नाव वाले उससे किसी प्रकार का सहयोग न मिलने पर यदि क्रुद्ध होकर उसे पानी में फेंक देने को तैयार हो जायं तो वह अपने आप ही उतर जाय एवं समभावपूर्वक तैर कर बाहर निकल जाय। यदि वे उसे पानी में डाल ही दें तो भी निराकुलता-पूर्वक तैरते हुए पानी पार कर जाय। तैरते समय किसी प्रकार का आनन्द न लेते हुए सहज भाव से तैरे। बाहर निकलने के बाद शरीर व वस्त्रों को अपने आप ही सूखने दे। तदनन्तर विहार करे।

पद्यात्रा :

ग्रामानुग्राम विचरण करते मुनि किसी के साथ अनावश्यक बातें न करे—गप न मारे किन्तु सावधानीपूर्वक चले। पैर से पार करने योग्य पानी होने पर उसे चलकर पार करे। पानी में चलते समय किसी प्रकार का आनन्द न लेते हुए सहज गति से पानी पार करे। पानी से बाहर निकल कर कीचड़युक्त गीले पैर से जमीन पर न चले किन्तु पैर सूखने पर ही साफ पैर से चलना प्रारम्भ करे। मार्ग में किसी के द्वारा पकड़े जाने पर अथवा परेशान किये जाने पर व्याकुल न हो। रास्ते में आने वाले चैत्य, स्तूप आदि को कुतूहलपूर्वक न देखे। चलते समय आचार्य आदि गुरुजनों का अविनय न हो, इसका पूरा ध्यान रखे। मार्ग में व्याघ्र आदि हिंसक प्राणियों को देखकर व्याकुल न हो, उन्मार्ग ग्रहण न करे और न कहीं छिपने की ही कोशिश करे अपितु निर्भय होकर परिस्थिति का सामना करते हुए आगे बढ़ता जाय। इसी प्रकार चोर-लुटेरों से भी न घबराये। लुटेरों से लूट लिये जाने पर दया की भीख न माँगते हुए धर्मोपदेशपूर्वक अपनी वस्तु वापिस माँगे। न मिलने पर किसी प्रकार का दुःख न करते हुए अपना मार्ग ग्रहण करे तथा किसी के सामने उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की शिकायत न करे। सब कष्टों को समभावपूर्वक सहन करना ही सच्चा संयम है--संयमी का मार्ग है—मुनिधर्म है।

वसति अर्थात् उपाश्रय :

जैन आचार-ग्रंथों में वसति के लिए 'शय्या' शब्द का प्रयोग

किया गया है। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम चूला के द्वितीय अध्ययन का नाम शय्यैषणा है जिसमें संयत के निवास-योग्य स्थान अर्थात् वसति की गवेषणा का विचार किया गया है। निर्युक्तिकार एवं चूर्णिकार ने शय्यैषणा अध्ययन का व्याख्यान करते हुए शय्या शब्द का अर्थ वसति किया है। वैसे शय्या का अर्थ बिछौना होता है। जहाँ बिछौना बिछाया जासके ऐसे उपाश्रय आदि वसतिस्थान भी शय्या के सम्बन्ध के कारण शय्या कहे जाते हैं। वसति-स्थान के गवेषग एवं उपयोग के विषय में सामान्य नियम यही है कि जिस स्थान के लिए त्यागी के निमित्त से किसी प्रकार की हिंसा हुई हो, होती हो अथवा होने वाली हो वह स्थान श्रमण-श्रमणी स्वीकार न करें।

जिस स्थान में किसी प्रकार के विशेष जीव-जन्तु दिखाई दें वहाँ संयत ध्यान, स्वाध्याय, संस्तारक (बिछौना) आदि न करे। जो स्थान साधारण जीव-जन्तुओं वाला हो उसे प्रमार्जन करके काम में ले।

जो मकान एक या अनेक त्यागियों को लक्ष्य करके बनाया गया हो, खरीदा गया हो अथवा अन्य ढंग से प्राप्त किया गया हो उसे सदोष समझकर निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी उपयोग में न लें। यदि किसी मकान में संयमी के निमित्त किसी प्रकार का संस्कार किया गया हो तो उसे भी वह स्वीकार न करे।

जहाँ तक बन सके, श्रमण-श्रमणी ऊँचे मकान में न रहें। कारणवशात् ऊँचे मकान में रहना पड़े तो ऊपर से हाथ-मुँह आदि न धोवें।

जिस मकान में स्त्री, बालक अथवा पशु का निवास हो उसमें श्रमण न रहे क्योंकि ऐसा स्थान सहज ही संयम का विराधक बन सकता है। श्रमणी के लिए पुरुषवाला स्थान निषिद्ध है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को गृहस्थ के साथ भी निवास नहीं करना चाहिए क्योंकि गृहस्थ तो शुचि-सामाचारयुक्त अर्थात् स्नानादि करने वाले होते हैं जब कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ स्नानादि शौच-क्रियाएँ नहीं करते। इस भेद के कारण गृहस्थ को अपने कार्यक्रम में व्युत्क्रम करना पड़ सकता है। दूसरी बात यह है कि गृहस्थ अपने यहाँ ठहरे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के निमित्त अनेक प्रकार के आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त हो सकता है और परिणामतः संयम की विराधना हो सकती है। रात्रि के समय चोरी आदि हो जाने पर वहाँ ठहरे हुए संयमी पर किसी प्रकार का आरोप आ सकता है।

कोई-कोई गृहस्थ अपने मकान बड़े इसलिए बनाते हैं कि अवसर आने पर वे भिक्षुओं के काम में आसकें। श्रमण-श्रमणियों को ऐसे मकानों में नहीं ठहरना चाहिए। यदि कोई गृहस्थ अपना बना-बनाया मकान श्रमणादि के लिए खाली कर अपने लिए दूसरा मकान बनाने का सोचता है तो साधु-साध्वियों को उसमें ठहरना अकल्प्य है।

श्रमण-श्रमणी उस घर में न रहें जिसमें गृहस्थ रहता हो, पानी आदि रखा जाता हो, गृहस्थ के घर में से होकर रास्ता जाता हो, लोग परस्पर कलह करते हों, स्नान करते हों, मालिश आदि करते हों। चित्रयुक्त स्थान भी त्यागियों के लिए त्याज्य है।

जो स्थान हिंसादि दोषों से रहित हो तथा जहाँ रहकर संयम की सम्यक्तया आराधना की जासके वही स्थान निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए कल्प्य है। इस प्रकार के स्थान में ठहरने के पूर्व स्वामी की निष्कपट भाव से अनुमति लेना अनिवार्य है। स्वामी की अनिच्छा अथवा निषेध होने की स्थिति में वह स्थान नहीं लेना चाहिए अथवा छोड़ देना चाहिए। संस्तारक आदि अन्य सामग्री के विषय में भी यही नियम है।

संयमी को किसी भी स्थान में ठहरने के पूर्व मलमूत्र के त्याग का विचार अवश्य कर लेना चाहिए। एतद्विषयक स्थान पहले से ही यथावत् देख लेना चाहिए ताकि बाद में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। पूरी सावधानी रखते हुए भी सम या विषम जैसा भी स्थान आदि मिले, समभावपूर्वक उपयोग में लेना चाहिए। संयम की किसी प्रकार से विराधना न हो, इसका पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के एक स्थान पर रहने के समय का दो दृष्टियों से विचार किया गया है। वर्षाऋतु में वे एक स्थान पर चतुर्मासपर्यन्त रहते हैं। शेष आठ महीनों में उन्हें एक स्थान पर एक साथ एक मास से अधिक रहना अकल्प्य है। बृहत्कल्प सूत्र के प्रथम उद्देश में एतद्विषयक स्पष्ट विधान किया गया है। उसमें यह भी बतलाया गया है कि यदि ग्राम, नगर आदि अन्दर व बाहर के भागों में बँटे हुए हों तो दोनों में अलग-अलग अधिकतम समय तक रहा जा सकता है। अन्दर रहते समय भिक्षाचर्या आदि अन्दर एवं बाहर रहते समय बाहर ही करना चाहिए। निर्ग्रन्थियों

के लिए एक मास के स्थान पर दो मास की मर्यादा रखी गई है।

एक परिक्षेप (चहारदीवारी) एवं एक द्वार वाले ग्रामादि में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को एक ही समय नहीं रहना चाहिए। जिस वसति के आस-पास दुकानें हों, जो गली के किनारे पर हो, जहाँ अनेक रास्ते मिलते हों वहाँ निर्ग्रन्थियों को रहना अकल्प्य है। निर्ग्रन्थ इस प्रकार के स्थानों में यतनापूर्वक रह सकते हैं। निर्ग्रन्थियों को बिना दरवाजे के खुले उपाश्रय में नहीं रहना चाहिए। द्वारयुक्त उपाश्रय न मिलने की स्थिति में अपवादरूप से परदा लगा कर रहा जा सकता है। निर्ग्रन्थों को बिना दर-वाजे के उपाश्रय में रहना कल्प्य है।

बृहत्कल्प के द्वितीय उद्देश में यह बतलाया गया है कि निर्ग्र-न्थियों को आगमनगृह (धर्मशाला आदि), विकृतगृह (अनावृत स्थान), वृक्षमूल (पेड़ का तना), अभ्रावकाश (खुला आकाश) आदि में रहना अकल्प्य है। निर्ग्रन्थ इन स्थानों में यतनापूर्वक रह सकते हैं। तृतीय उद्देश में कहा गया है कि निर्ग्रन्थों को निर्ग्र-न्थियों के उपाश्रय में बैठना, सोना, खाना, पीना आदि कुछ भी नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार निर्ग्रन्थियों के लिए भी निर्ग्रन्थों के उपाश्रय में बैठना आदि निषिद्ध है।

श्रमण-श्रमणियों को किसी के घर के भीतर अथवा दो घरों के बीच में बैठना, सोना, देर तक खड़े रहना आदि अकल्प्य है। किसी रोगी, वृद्ध, तपस्वी आदि के गिर पड़ने पर बैठने आदि में कोई हर्ज नहीं।

जब श्रमण- श्रमणियों को अपना वसति-स्थान छोड़ कर अन्यत्र विहार करना हो तो प्रातिहारिक अर्थात् वापस देने योग्य उपकरण स्वामी को सौंपे बिना प्रस्थान नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, शय्यातर अर्थात् मकानमालिक के शय्या-संस्तारक को अपने लिए जमाये हुए रूप में ही न छोड़ते हुए यथोचित रूप से व्यवस्थित करने के बाद स्थान छोड़ना चाहिए।

जिस दिन कोई श्रमण अथवा श्रमणियाँ वसति, संस्तारक आदि का त्याग करें उसी दिन अन्य श्रमण अथवा श्रमणियाँ वहाँ आकर ठहर जायं तो भी उस दिन के लिए उस स्थान आदि पर पहले के श्रमण-श्रमणियों का ही अवग्रह अर्थात् अधिकार बना रहता है। दूसरे शब्दों में एक श्रमण-वर्ग के अधिकार की वस्तु पर दूसरा श्रमण-वर्ग तब तक अपना अधिकार न समझे जब तक कि उसका त्याग किये एक दिन व्यतीत न हो जाय।

श्रमण-श्रमणियों को किसी स्थान पर रहते हुए चारों ओर सवा योजन अर्थात् पाँच कोस की मर्यादा रखना कल्प्य है। यह मर्यादा किसी प्रयोजन से कहीं जाने-आने के लिए समझनी चाहिए। इस सामान्य मर्यादा में कार्यविशेष अथवा परिस्थिति-विशेष की दृष्टि से आवश्यक परिवर्तन भी किया जा सकता है।

सामाचारी :

सामाचारी अथवा समाचारी का अर्थ है सम्यक् चर्या। श्रमण की दिनचर्या कैसी होनी चाहिए ? इस प्रश्न का जैन आचार-शास्त्र में व्यवस्थित उत्तर दिया गया है। यह उत्तर दो रूपों में

है : सामान्य दिनचर्या व पर्युषणाकल्प। उत्तराध्ययन आदि में मुनि की सामान्य दिनचर्या पर प्रकाश डाला गया है तथा कल्प-सूत्र आदि में पर्युषणाकल्प अर्थात् वर्षावास (चातुर्मास) से सम्बन्धित विशिष्ट चर्या का वर्णन किया गया है।

सामान्य चर्या :

उत्तराध्ययन सूत्र के छब्बीसवें अध्ययन के प्रारम्भ में श्रमण की सामान्य चर्यारूप सामाचारी के दस प्रकार बतलाये गये हैं : १. आवश्यिकी, २. नैषेधिकी, ३. आपृच्छना, ४. प्रतिपृच्छना, ५. छन्दना, ६. इच्छाकार, ७. मिथ्याकार, ८. तथाकार अथवा तथ्येतिकार, ९. अभ्युत्थान, १०. उपसंपदा।

किसी आवश्यक कार्य के निमित्त उपाश्रय से बाहर जाते समय 'मैं आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाता हूँ' यों कहना चाहिए। यह आवश्यिकी सामाचारी है। बाहर से वापस आकर 'अब मुझे बाहर नहीं जाना है' यों कहना चाहिए। यह नैषेधिकी सामाचारी है। किसी भी कार्य को करने के पूर्व गुरु अथवा ज्येष्ठ मुनि से पूछना चाहिए कि क्या मैं यह कार्य कर लूं ? इसे आपृच्छना कहते हैं। गुरु अथवा ज्येष्ठ मुनि ने जिस कार्य के लिए पहले मना कर दिया हो उस कार्य के लिए आवश्यकता होने पर पुनः पूछना कि क्या अब मैं यह कार्य कर लूँ, प्रतिपृच्छना है। लाये हुए आहारादि के लिए अपने साथी श्रमणों को आमंत्रित कर धन्य होना छंदना है। परस्पर एक-दूसरे की इच्छा जानकर अनुकूल व्यवहार करना इच्छाकार कहलाता है। प्रमाद के कारण

होने वाली अपनी त्रुटियों के लिए पश्चात्ताप कर उन्हें मिथ्या अर्थात् निष्फल बनाना मिथ्याकार कहलाता है। गुरु अथवा ज्येष्ठ मुनि की आज्ञा स्वीकार कर उनके कथन का 'तहत्ति' (आपका कथन यथार्थ है) कहकर आदर करना तथाकार अथवा तथ्येति-कार कहलाता है। उठने, बैठने आदि में अपने से बड़ों के प्रति भक्ति एवं विनय का व्यवहार करना अभ्युत्थान है। भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र (शतक २५) में अभ्युत्थान के स्थान पर निमन्त्रणा शब्द है। निमन्त्रणा का अर्थ है आहारादि लाने के लिए जाते समय साथी श्रमणों को भी साथ आने के लिए निमन्त्रित करना अथवा उनसे यह पूछना कि क्या आपके लिए भी कुछ लेता आऊँ ? ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए योग्य गुरु का आश्रय ग्रहण करना उपसंपदा है। इसके लिए श्रमण अपने गच्छ का त्याग कर अन्य गच्छ का आश्रय भी ले सकता है।

मुनि को दिवस को चार भागों में विभक्त कर अपनी दिन-चर्या सम्पन्न करनी चाहिए। उसे दिवस के प्रथम प्रहर में मुख्यतः स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में भिक्षाचर्या तथा चतुर्थ में फिर स्वाध्याय करना चाहिए। इसी प्रकार रात्रि के चार भागों में से प्रथम में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में निद्रा एवं चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय करना चाहिए। इस प्रकार दिन-रात के आठ पहर में से चार पहर स्वाध्याय के लिए, दो पहर ध्यान के लिए, एक पहर भोजन के लिए तथा एक पहर सोने के लिए है। इससे प्रतीत होता है कि श्रमण की दिनचर्या में अध्ययन का सर्वाधिक महत्त्व है। इसके बाद ध्यान को महत्त्व दिया गया है।

खाने-पीने के लिए दिन में एक बार एक पहर का समय दिया गया है। इसी प्रकार सोने के लिए भी रात के समय केवल एक पहर दिया गया है। स्वाध्याय अथवा अध्ययन में निम्नोक्त पाँच क्रियाओं का समावेश किया जाता है : वाचना; पृच्छना, परिवर्तना (पुनरावर्तन), अनुप्रेक्षा (चिन्तन) और धर्मकथा।

श्रमण की इस संक्षिप्त दिनचर्या का विवेचन करते हुए उत्तराध्ययनकार ने बतलाया है कि दिवस के प्रथम प्रहर के प्रारम्भ के चतुर्थ भाग में वस्त्र-पात्रादिका प्रतिलेखन (निरीक्षण) करने के बाद गुरु को नमस्कार कर सर्व दुःखमुक्ति के लिए स्वाध्याय करना चाहिए। इसी प्रकार दिवस के अन्तिम प्रहर के अन्त के चतुर्थ भाग में स्वाध्याय से निवृत्त होकर गुरु को वंदन करने के बाद वस्त्र-पात्रादि का प्रतिलेखन करना चाहिए। प्रतिलेखन करते समय परस्पर वार्तालाप नहीं करना चाहिए और न किसी अन्य से ही किसी प्रकार की बातचीत करनी चाहिए अपितु अपने कार्य में पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। तृतीय प्रहर में क्षुधा-वेदना की शान्ति आदि के लिए आहार-पानी की गवेषणा करनी चाहिए। आहार-पानी लेने जाते समय भिक्षु को पात्र आदि का अच्छी तरह प्रमार्जन कर लेना चाहिए। भिक्षा के लिए अधिक-से-अधिक आधा योजन (दो कोस) तक जाना चाहिए। चतुर्थ प्रहर के अंत में स्वाध्याय से निवृत्त होने पर एवं वस्त्र-पात्रादि की प्रतिलेखना कर लेने पर मल-मूत्र का त्याग करने की भूमि का अवलोकन करने के बाद कायोत्सर्ग (प्रतिक्रमण अथवा आवश्यक) करना चाहिए। कायोत्सर्ग में दिवससम्बन्धी अति-

चारों—दोषों की चिन्तना एवं आलोचना करनी चाहिए। तदनन्तर रात्रिकालीन स्वाध्याय आदि में लग जाना चाहिए। रात्रि के चतुर्थ प्रहर में इस ढंग से स्वाध्याय करना चाहिए कि अपनी आवाज से गृहस्थ जग न जायं। चतुर्थ प्रहर का चतुर्थ भाग शेष रहने पर पुनः कायोत्सर्ग करना चाहिए एवं रात्रिसम्बन्धी अतिचारों की चिन्तना व आलोचना करनी चाहिए।

पर्युषणाकल्प :

कल्पसूत्र (पर्युषणाकल्प) के सामाचारी नामक अंतिम प्रकरण में यह उल्लेख है कि श्रमण भगवान् महावीर ने वर्षा ऋतु का बीस रातसहित एक महीना बीतने पर अर्थात् आषाढ़ मास के अन्त में चातुर्मास लगने के वाद पचास दिन व्यतीत होने पर वर्षावास किया। इस प्रकरण में यह भी उल्लेख है कि इस समय से पूर्व भी वर्षावास कल्प्य है किन्तु इस समय का उल्लंघन करना कल्प्य नहीं। इस प्रकार जैन आचारशास्त्र के अनुसार मुनियों का वर्षावास चातुर्मास लगने से लेकर पचास दिन बीतने तक कभी भी प्रारंभ हो सकता है अर्थात् आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी से लेकर भाद्रपद शुक्ला पंचमी तक किसी भी दिन शुरू हो सकता है। सामान्यतया चातुर्मास प्रारंभ होते ही जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति को ध्यान में रखते हुए मुनि को वर्षावास कर लेना चाहिए। परिस्थितिविशेष की दृष्टि से उसे पचास दिन का समय और दिया गया है। इस समय तक उसे वर्षावास अवश्य कर लेना चाहिए।

वर्षावास में स्थित निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को भी चारों ओर

सवा योजन अर्थात् पांच कोस तक की अवग्रह-मर्यादा—गमनागमन की क्षेत्र-सीमा रखना कल्प्य है।

हृष्टपुष्ट, आरोग्ययुक्त एवं बलवान् निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को दूध, दही, मक्खन, घी, तेल आदि रसविकृतियाँ बार-बार नहीं लेनी चाहिए।

नित्यभोजी भिक्षु को गोचरकाल में (गोचरी के समय) आहार-पानी के लिए गृहस्थ के घर की ओर एक बार जाना कल्प्य है। आचार्य आदि की सेवा के निमित्त अधिक बार भी जाया जा सकता है। चतुर्थभक्त अर्थात् उपवास करने वाले भिक्षु को उपवास के बाद प्रातःकाल गोचरी के लिए निकल कर हो सके तो उस समय मिलने वाले आहार-पानी से ही उस दिन काम चला लेना चाहिए। वैसा शक्य न होने पर गोचरकाल में आहार-पानी के लिए गृहपति के घर की ओर एक बार और जाया जा सकता है। इसी प्रकार षष्ठभक्त अर्थात् दो उपवास करने वाले भिक्षु को गोचरी के समय आहार-पानी के लिए गृहस्थ के घर की ओर दो बार और जाना कल्प्य है। अष्टमभक्त अर्थात् तीन उपवास करने वाला भिक्षु गोचरी के समय आहार-पानी के लिए गृहपति के घर की ओर तीन बार और जा सकता है। विकृष्टभक्त अर्थात् अष्टमभक्त से अधिक तप करने वाले भिक्षु के लिए एतद्विषयक कोई निर्धारित संख्या अथवा समय नहीं है। वह अपनी सुविधानुसार किसी भी समय एवं कितनी ही बार आहार-पानी के लिए गृहस्थ के घर जा सकता है। उसे इस विषय में पूर्ण स्वतन्त्रता है।

नित्यभोजी भिक्षु को सब प्रकार का निर्दोष पानी लेना कल्प्य है। चतुर्थभक्त करने वाले भिक्षु को निम्नोक्त तीन प्रकार का पानी ग्रहण करना कल्प्य है: उत्स्वेदिम अर्थात् पिसे हुए अनाज का पानी, संस्वेदिम अर्थात् उबले हुए पत्तों का पानी और तंदुलोदक अर्थात् चावल का पानी। षष्ठभक्त करने वाले भिक्षु के लिए निम्नोक्त तीन प्रकार का पानी विहित है: तिलोदक अर्थात् तिल का पानी, तुषोदक अर्थात् तुष का पानी और यवोदक अर्थात् जौ का पानी। अष्टमभक्त करने वाले भिक्षु के लिए निम्नोक्त तीन प्रकार का पानी विहित है: आयाम अर्थात् पके हुए चावल का पानी, सौवीर अर्थात् कांजी और शुद्धविकट अर्थात् गरम पानी। विकृष्टभक्त करने वाले भिक्षु को केवल गरम पानी ग्रहण करना कल्प्य है।

पाणिपात्र अर्थात् दिगम्बर भिक्षु को तनिक भी पानी बरसता हो तो भोजन के लिए अथवा पानी के लिए नहीं निकलना चाहिए। पात्रधारी भिक्षु अधिक वर्षा में आहार-पानी के लिए बाहर नहीं जा सकता। अल्प वर्षा होती हो तो एक वस्त्र और ओढ़कर आहार-पानी के लिए गृहस्थ के घर की ओर जा सकता है। भिक्षा के लिए बाहर गया हुआ मुनि वर्षा आ जाने की स्थिति में वृक्ष आदि के नीचे ठहर सकता है एवं आवश्यकता होने पर वहाँ आहार-पानी का उपभोग भी कर सकता है। उसे खा-पीकर पात्रादि साफ कर सूर्य रहते हुए अपने उपाश्रय में चले जाना चाहिये क्योंकि वहाँ रह कर रात्रि व्यतीत करना अकल्प्य है।

मुनि को अपने शरीर से पानी टपकने की स्थिति में अथवा अपना शरीर गीला होने की अवस्था में आहार-पानी का उपभोग नहीं करना चाहिये। जब उसे यह मालूम हो कि अब मेरा शरीर सूख गया है तब आहार-पानी का उपभोग करना चाहिए।

पर्युषणा के बाद अर्थात् वर्षा ऋतु के पचास दिन व्यतीत होने पर निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के सिर पर गोलोमप्रमाण अर्थात् गाय के बाल जितने केश भी नहीं रहने चाहिए। कैंची से अपना मुण्डन करने वाले को आधे महीने से मुंड होना चाहिए, उस्तरे से अपना मुण्डन करने वाले को एक महीने से तथा लोच से मुंड होने वाले को अर्थात् हाथों से बाल उखाड़ कर अपना मुंडन करने वाले को छः महीने से मुण्ड होना चाहिए। स्थविर (वृद्ध) वार्षिक लोच कर सकता है।

श्रमण-श्रमणियों को पर्युषणा के बाद अधिकरणयुक्त अर्थात् क्लेशकारी वाणी बोलना अकल्प्य है। पर्युषणा के दिन उन्हें परस्पर क्षमायाचना करनी चाहिए एवं उपशमभाव की वृद्धि करनी चाहिए क्योंकि जो उपशमभाव रखता है वही आराधक होता है। श्रमणत्व का सार उपशम ही है अतः जो उपशमभाव नहीं रखता वह विराधक कहा जाता है।

भिक्षु-प्रतिमाएँ :

प्रतिमा का अर्थ होता है तपविशेष। दशाश्रुतस्कंध के षष्ठ उद्देश में एकादश उपासक-प्रतिमाओं का तथा सप्तम उद्देश में

द्वादश भिक्षु-प्रतिमाओं का वर्णन है। उपासक-प्रतिमाएँ श्रावक के लिए हैं जबकि भिक्षु-प्रतिमाएँ श्रमण के लिए हैं। द्वादश भिक्षु-प्रतिमाओं के नाम इस प्रकार हैं : १. मासिकी, २. द्विमासिकी, ३. त्रिमासिकी, ४. चतुर्मासिकी, ५. पंचमासिकी, ६. षट्मासिकी, ७. सप्तमासिकी, ८. प्रथम सप्त-अहोरात्रिकी, ९. द्वितीय सप्त-अहोरात्रिकी, १०. तृतीय सप्त-अहोरात्रिकी, ११. अहोरात्रिकी, १२. रात्रिकी।

मासिकी प्रतिमाधारी अर्थात् एक महीने तक तपविशेष की आराधना करने वाले मुनि को किसी भी संकट से नहीं घबराना चाहिए। उसे प्रत्येक प्रकार के परीषह को क्षमापूर्वक सहन करना चाहिए। किसी भी उपसर्ग की उपस्थिति में दीनता का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। इस प्रतिमा में मुनि को एक दत्ति अन्न की एवं एक दत्ति जल की लेना विहित है। यहाँ दत्ति का अर्थ है दीयमान अन्न या जल की एक अखण्डित धारा। यह पदार्थ के एक अंश—हिस्से—टुकड़े के रूप में होती है। मासिकी प्रतिमा-स्थित मुनि को अज्ञात कुल से एक व्यक्ति के लिए बने हुए भोजन में से ही आहार ग्रहण करना कल्प्य है। गर्भवती के लिए, बालक वाली के लिए, बालक को दूध पिलाने वाली के लिए बना हुआ भोजन लेना अकल्प्य है। जिसके दोनों पैर देहली के भीतर अथवा बाहर हों उससे वह आहार नहीं लेता। जो एक पैर देहली के भीतर एवं एक देहली के बाहर रखकर भिक्षा देता है उसी से वह ग्रहण करता है। यह उसका अभिग्रह अर्थात् प्रतिज्ञाविशेष है। मासिकी प्रतिमाधारी श्रमण जहाँ उसे कोई जानता हो वहाँ

एक रात एवं जहाँ उसे कोई भी नहीं जानता हो वहाँ दो रात रह सकता है। इससे अधिक रहने पर उतने ही दिन का छेद (दीक्षा-पर्याय में कटौती) अथवा तपरूप प्रायश्चित्त लगता है। मासिकी प्रतिमा-प्रतिपन्न निर्ग्रन्थ को चार प्रकार की भाषा कल्प्य है : आहारादि की याचना करने की, मार्गादि पूछने की, स्थानादि के लिए अनुमति लेने की तथा प्रश्नों के उत्तर देने की। इस प्रकार के अनगार के उपाश्रय में यदि कोई आग लगा दे तो भी वह बाहर नहीं निकलता। यदि कोई उसे पकड़ कर बाहर खींचने का प्रयत्न करे तो वह हठ न करते हुए यतनापूर्वक बाहर निकल आता है। यदि उसके पैर में कांटा, कंकड़ या कील आदि लग जाय अथवा आँख में धूलि आदि गिर जाय तो उसकी परवाह न करते हुए समभावपूर्वक विचरण करता रहता है। यदि उसके सामने मदोन्मत्त हाथी, घोड़ा, बैल, भैंस, सूअर, कुत्ता, बाघ अथवा अन्य क्रूर प्राणी आ जाय तो उससे भयभीत होकर वह एक कदम भी पीछे नहीं हटता। यदि कोई भोला-भाला जीव उसके सामने आजाय और डरने लगे तो वह कुछ पीछे हट जाता है। वह ठंड के भय से शीतल स्थान से उठ कर उष्ण स्थान पर अथवा गरमी के डर से उष्ण स्थान से उठ कर शीतल स्थान पर नहीं जाता अपितु जिस समय जहाँ होता है उस समय वहीं रह कर शीतोष्ण परीषह सहन करता है।

द्विमासिकी प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार भी इसी प्रकार व्युत्सृष्ट-काय अर्थात् शरीर के मोह से रहित होता है। वह केवल दो दत्तियां अन्न की तथा दो दत्तियाँ जल की ग्रहण करता है। त्रिमासिकी

प्रतिमा में अन्न-जल की तीन दत्तियां, चतुर्मासिकी प्रतिमा में चार दत्तियां, पंचमासिकी प्रतिमा में पांच दत्तियां, षट्मासिकी प्रतिमा में छः दत्तियां तथा सप्तमासिकी प्रतिमा में सात दत्तियां विहित हैं।

प्रथम सप्त-अहोरात्रिकी प्रतिमा-प्रतिपन्न भिक्षु निर्जल चतुर्थ भक्त (उपवास) करते हुए ग्रामादि के बाहर उत्तानासन (लेटे हुए आकाश की ओर मुख रख कर—चित्त लेट कर), पार्श्वासन (एक पार्श्व के आधार पर लेटकर) अथवा निषद्यासन (समपादपूर्वक बैठ कर) से कायोत्सर्ग—ध्यान करता है। वहां वह देव, मनुष्य या तिर्यञ्चसम्बन्धी उपसर्ग उत्पन्न होने पर ध्यान से स्खलित नहीं होता। द्वितीय सप्त-अहोरात्रिकी प्रतिमा में दण्डासन, लकुटासन अथवा उत्कुटुकासन पर ध्यान किया जाता है। तृतीय सप्त-अहोरात्रिकी प्रतिमा में ध्यान के लिए गोदोहनिकासन, वीरासन अथवा आम्रकुब्जासन का अवलम्बन लिया जाता है। शेष सब नियम प्रथम सप्त-अहोरात्रिकी प्रतिमा के ही समान हैं।

अहोरात्रिकी प्रतिमा निर्जल षष्ठ भक्त (दो उपवास) पूर्वक होती है। इस प्रतिमा में स्थित मुनि ग्रामादि के बाहर (खड़ा) रह कर दोनों पैरों को कुछ संकुचित कर तथा दोनों भुजाओं को (जानुपर्यन्त) लम्बी कर कायोत्सर्ग करता है। रात्रिकी प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार निर्जल अष्ट भक्त (तीन उपवास) पूर्वक ग्रामादि के बाहर खड़ा रह कर शरीर को थोड़ा-सा आगे की ओर झुकाकर एक पुद्गल (नासिका, नख

आदि किसी एक अंगोपांग) पर दृष्टि स्थित कर निर्निमेष नेत्रों, निश्चल अंगों, संकुचित पैरों एवं प्रलम्बित बाहुओं से ध्यानस्थ होता है तथा पूर्ववत् समस्त उपसर्गों को सहन करता है।

इन प्रतिमाओं के नामों से स्पष्ट है कि प्रथम प्रतिमा एक मास की, द्वितीय दो मास की यावत् सातवीं प्रतिमा सात मास की होती है। आठवीं, नवीं व दसवीं प्रतिमाओं का समय सात-सात दिनरात का है। ग्यारहवीं प्रतिमा एक दिनरात की तथा बारहवीं प्रतिमा एक रात की होती है। प्रथम सात प्रतिमाओं में टीकाकार पूर्व-पूर्व की प्रतिमाओं का समय भी मिलाते जाते हैं। दूसरे शब्दों में टीकाकारों के मत से प्रथम सात प्रतिमाएँ एक-एक मास की ही होती हैं। ऐसा मानने पर आठ मास के भीतर ही द्वादश प्रतिमाएँ समाप्त हो जाती हैं। यदि मूल सूत्र के अनुसार प्रथम प्रतिमा एक मास की यावत् सप्तम प्रतिमा अलग से सात मास की मानी जाय तो प्रथम सात प्रतिमाओं के लिए दो वर्ष चार महीने तथा अंतिम पांच प्रतिमाओं के लिए बाईस दिन व एक रात का समय लगता है। इस प्रकार द्वादश प्रतिमाएँ दो वर्ष, चार मास, बाईस दिवस व एक रात्रि में समाप्त हो पाती हैं। इस अवधि में वर्षा ऋतु के दिनों में विहार के सामान्य नियम का पालन नहीं किया जाता अर्थात् एक या दो दिन के अन्तर से ग्रामानुग्राम विहार न किया जाकर चार मास पर्यन्त एक ही स्थान पर रहा जाता है।

व्यवहार सूत्र के दसवें उद्देश में यवमध्य-प्रतिमा एवं वज्र-मध्य-प्रतिमा का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार अन्यत्र भद्र-

प्रतिमा, महाभद्र-प्रतिमा, सुभद्र-प्रतिमा, सर्वतोमहाभद्र-प्रतिमा, सप्तपिण्डैषणा-प्रतिमा, सप्तपानैषणा-प्रतिमा आदि विविध भिक्षु-प्रतिमाओं का वर्णन उपलब्ध होता है। इनमें तप के विविध रूपों का प्रतिपादन किया गया है। तप से कर्मनिर्जरा होती है अतः मुनि के लिए तप आचरणीय है।

समाधिमरण अथवा पंडितमरण :

मरण दो प्रकार का होता है : बालमरण और पंडित-मरण। अज्ञानियों का मरण बालमरण एवं ज्ञानियों का मरण पंडितमरण कहा जाता है। जो विषयों में आसक्त होते हैं एवं मृत्यु से भयभीत रहते हैं वे अज्ञानी बालमरण से मरते हैं। जो विषयों में अनासक्त होते हैं यथा मृत्यु से निर्भय रहते हैं वे ज्ञानी पंडितमरण से मरते हैं। चूंकि पंडितमरण में संयमी का चित्त समाधियुक्त होता है अर्थात् संयमी के चित्त में स्थिरता एवं समभाव की विद्यमानता होती है अतः पंडितमरण को समाधि-मरण भी कहते हैं।

जब भिक्षु या भिक्षुणी को यह प्रतीति हो जाय कि मेरा शरीर तप आदि के कारण अत्यन्त कृश हो गया है अथवा रोग आदि कारणों से अत्यन्त दुर्बल हो गया है अथवा अन्य किसी आकस्मिक कारण से मृत्यु समीप आगई है एवं संयम का निर्वाह असंभव हो गया है तब वह क्रमशः आहार का संकोच करता हुआ कषाय को कृश करे, शरीर को समाहित करे एवं शान्त चित्त से शरीर का परित्याग करे। इसी का नाम समाधिमरण

अथवा पंडितमरण है। चूंकि इस प्रकार के मरण में शरीर एवं कषाय को कृश किया जाता है—कुरेदा जाता है अतः इसे संलेखना भी कहते हैं। संलेखना में निर्जीव एकान्तस्थान में तृणशय्या (संस्तारक) बिछा कर आहारादि का परित्याग किया जाता है अतः इसे संथारा (संस्तारक) भी कहते हैं।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन में समाधिमरण स्वीकार करने वाले को बुद्ध व ब्राह्मण कहा गया है एवं इस मरण को महावीरोपदिष्ट बताया गया है। समाधिमरण ग्रहण करने वाले की माध्यस्थ्यवृत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह संयमी न जीवित रहने की आकांक्षा रखता है, न मृत्यु की प्रार्थना करता है। वह जीवन और मरण में आसक्तिरहित होता है—समभाव रखता है। इस अवस्था में यदि कोई हिंसक प्राणी उसके शरीर का मांस व रक्त खा जाय तो भी वह उस प्राणी का हनन नहीं करता और न उसे अपने शरीर से दूर ही करता है। वह यह समझता है कि ये प्राणी उसके नश्वर शरीर का ही नाश करते हैं, अमर आत्मा का नहीं।

•

श्रमण-संघ

गच्छ, कुल, गण व संघ

आचार्य

उपाध्याय

प्रवर्तक, स्थविर, गणी गणावच्छेदक व रत्नाधिक

निर्ग्रन्थी-संघ

वैयावृत्य

दीक्षा

प्रायश्चित्त

●

जैन आचारशास्त्र में स्थविरकल्पिक मुनि के लिए व्रतपालन की भिन्न व्यवस्था की गई है एवं जिनकल्पिक मुनि के लिए भिन्न। जिनकल्पिक मुनि का आचार अति कठोर तपोमय होता है अतः उसे विशेष प्रकार के संगठन अथवा सामूहिक मर्यादाओं में न बाँध कर एकाकी विचरने की अनुमति दी गई है। वह एकलविहारी एवं एकान्तविहारी होकर ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। स्थविरकल्पिक के विषय में यह बात नहीं है। वह एकाकी रह कर संयम का पालन समुचित रूप से नहीं कर सकता। उसकी मानसिक भूमिका अथवा आध्यात्मिक भूमिका इतनी विकसित नहीं होती कि वह अकेला रह कर सर्वविरत श्रमणधर्म का पालन कर सके। इसलिए स्थविरकल्पिकों के लिए संघव्यवस्था की गई है। संघ से पृथक् होकर विचरण करने वाले स्थविरकल्पिकों के विषय में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पंचम अध्ययन में स्पष्ट कहा गया है कि एकचारी बहुक्रोधी, बहुमानी, बहुमायी एवं बहुलोभी होते हैं। वे 'हम तो धर्म में उद्यत हैं' ऐसा अपलाप करते हैं। वस्तुतः उनका दुराचरण कोई देख न ले इसलिए वे एकाकी विचरते हैं। वे अपने अज्ञान एवं प्रमाद के कारण धर्म को नहीं जानते। व्यवहार सूत्र के प्रथम उद्देश में एकलविहारी साधु के विषय में कहा गया है कि कोई साधु गण का त्याग कर अकेला ही विचरे और बाद

में पुनः गण में सम्मिलित होना चाहे तो उसे आलोचना आदि (प्रायश्चित्त) करवाकर प्रथम दीक्षा का छेद अर्थात् भंग कर नई दीक्षा अंगीकार करवानी चाहिए। जो नियम सामान्य एकल-विहारी निर्ग्रन्थ के लिए है वही एकलविहारी गणावच्छेदक, उपाध्याय, आचार्य आदि के लिए भी है।

गच्छ, कुल, गण व संघ :

श्रमण-संघ के मूल दो विभाग हैं : साधुवर्ग व साध्वी-वर्ग। संख्या की विशालता को दृष्टि में रखते हुए इन वर्गों को अनेक उपविभागों में विभक्त किया जाता है। जितने साधुओं व साध्वियों की सुविधापूर्वक देख-रेख व व्यवस्था की जा सके उतने साधु-साध्वियों के समूह को गच्छ कहा जाता है। इस प्रकार के गच्छ के नायक को गच्छाचार्य कहते हैं। गच्छ के साधुओं अथवा साध्वियों की संख्या बड़ी होने पर उनका विभिन्न वर्गों में विभाजन किया जा सकता है। इस प्रकार के वर्ग में कम से कम कितने साधु हों, इसका विधान करते हुए व्यवहार सूत्र के चतुर्थ उद्देश में बताया गया है कि हेमन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में आचार्य एवं उपाध्याय के साथ कम से कम एक अन्य साधु रहना चाहिए। अन्य वर्गनायक, जिसे जैन परिभाषा में गणावच्छेदक कहते हैं, के साथ हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में कम से कम दो अन्य साधु रहने चाहिए। वर्षाऋतु में आचार्य एवं उपाध्याय के साथ दो तथा गणावच्छेदक के साथ तीन अन्य साधुओं का रहना अनिवार्य है। पंचम उद्देश में साध्वियों की

अल्पतम संख्या का विधान करते हुए कहा गया है कि प्रवर्तिनी (प्रधान आर्या) को हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में कम से कम दो तथा वर्षाऋतु में कम से कम तीन अन्य साध्वियों के साथ रहना चाहिए। गणावच्छेदिनी के साथ वर्षाकाल में कम से कम चार तथा अन्य समय में कम से कम तीन साध्वियाँ रहनी चाहिए। गच्छ के विभिन्न वर्गों के साधु-साध्वी गच्छाचार्य की आज्ञा के अनुसार ही विचरण करते हैं। इस प्रकार के अनेक गच्छों के समूह को कुल कहते हैं। कुल के नायक को कुलाचार्य कहा जाता है। अनेक कुलों के समूह को गण तथा अनेक गणों के समुदाय को संघ कहते हैं। गणनायक गणाचार्य अथवा गणधर तथा संघ-नायक संघाचार्य अथवा प्रधानाचार्य कहलाता है।

आचार्य :

श्रमण-श्रमणियों में आचार्य का स्थान सर्वोपरि है। उसके बाद उपाध्याय, गणी आदि का स्थान आता है। व्यवहार सूत्र के तृतीय उद्देश में आचार्य-पद की योग्यताओं का दिग्दर्शन कराते हुए कहा गया है कि जो कम से कम पांच वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाला है, श्रमणाचार में कुशल है, प्रवचन में प्रवीण है यावत् दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प अर्थात् बृहत्कल्प एवं व्यवहार सूत्रों का ज्ञाता है उसे आचार्य एवं उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित करना कल्प्य है। आठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण यदि आचारकुशल, प्रवचनप्रवीण एवं असंक्लिष्टमना है तथा कम से कम स्थानांग व समवायांग सूत्रों का ज्ञाता है तो उसे आचार्य

उपाध्याय, स्थविर, गणी, गणावच्छेदक आदि की पदवी प्रदान की जा सकती है। ये सामान्य नियम हैं। अपवाद के तौर पर तो विशेष कारणवशात् संयम से भ्रष्ट हो पुनः श्रमणाचार अंगीकार करने वाले निर्ग्रन्थ को एक दिन की दीक्षापर्याय वाला होने पर भी आचार्यादि पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। इस प्रकार का निर्ग्रन्थ संस्कारों की दृष्टि से सामान्यतया प्रतीतिकारी, धैर्यशील, विश्वसनीय, समभावी, प्रमोदकारी, अनुमत एवं बहुमत कुल का होना आवश्यक है। इतना ही नहीं, उसमें खुद में प्रतीति, धैर्य, समभाव आदि स्वकुलोपलब्ध गुणों का होना जरूरी है। सूत्रों का ज्ञान तो आवश्यक है ही। इस प्रकार का निर्ग्रन्थ कुलसम्पन्न एवं गुणसम्पन्न होने के कारण अपने दायित्व का सम्यक्तया निर्वाह कर सकता है।

मैथुन सेवन करने वाले श्रमण को आचार्य आदि की पदवी प्रदान करने का निषेध करते हुए कहा गया है कि जो गच्छ से अलग हुए बिना अर्थात् गच्छ में रहते हुए ही मैथुन में आसक्त हो उसे जीवनपर्यन्त आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी एवं गणावच्छेदक की पदवी देना निषिद्ध है। गच्छ का त्याग कर मैथुन सेवन करने वाले को पुनः दीक्षित हो गच्छ में सम्मिलित होने के बाद तीन वर्ष तक आचार्यादि की पदवी प्रदान करना निषिद्ध है। तीन वर्ष व्यतीत होने पर यदि उसका मन स्थिर हो, विकार शान्त हों, कषायादि का अभाव हो तो उसे आचार्य आदि के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

श्रमण-श्रमणियों के लिए यह आवश्यक है कि वे आचार्य

आदि पूज्य पुरुषों की अनुपस्थिति में विचरण न करें और न कहीं रहें ही। व्यवहार सूत्र के चतुर्थ उद्देश में बताया गया है कि ग्रामानुग्राम विचरते हुए यदि अपने गण के आचार्य की मृत्यु हो जाय तो अन्य गण के आचार्य को प्रधान के रूप में अंगीकार कर रागद्वेषरहित होकर विचरण करना चाहिए। यदि उस समय कोई योग्य आचार्य न मिल सके तो अपने में से किसी योग्य साधु को आचार्य की पदवी प्रदान कर उसकी आज्ञा के अनुसार आचरण करना चाहिए। इस प्रकार के योग्य साधु का भी अभाव हो तो जहाँ तक अपने अमुक सार्धर्मिक साधु न मिल जायँ वहाँ तक मार्ग में एक रात्रि से अधिक न ठहरते हुए लगातार विहार करते रहना चाहिए। रोगादि विशेष कारणों से कहीं अधिक ठहरना पड़ जाय तो कोई हानि नहीं। वर्षाऋतु के दिनों में आचार्य का अवसान होने पर भी इसी प्रकार आचरण करना चाहिए। इस प्रकार की विशेष परिस्थिति में वर्षाकाल में भी विहार विहित है।

निर्ग्रन्थियों के विषय में व्यवहार सूत्र के सप्तम उद्देश में बताया गया है कि तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले निर्ग्रन्थ को तीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाली निर्ग्रन्थी उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित कर सकती है। इसी प्रकार पांच वर्ष की दीक्षापर्याय वाले निर्ग्रन्थ को साठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाली निर्ग्रन्थी आचार्य अथवा उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित कर सकती है। तात्पर्य यह है कि साधु-साध्वियों को बिना आचार्यादि के नियन्त्रण के स्वच्छन्तापूर्वक नहीं रहना चाहिए।

अपने जीवन के अन्तिम समय में आचार्य विविध पदों पर नियुक्तियाँ कर सकता है। एतद्विषयक विशिष्ट विधान करते हुए व्यवहार सूत्र के चतुर्थ उद्देश में कहा गया है कि यदि आचार्य अधिक बीमार हो और उसके जीने की विशेष आशा न हो तो उसे अपने पास के साधुओं को बुलाकर कहना चाहिए कि मेरी आयु पूर्ण होने पर अमुक साधु को अमुक पद प्रदान करें। आचार्य की मृत्यु के बाद यदि वह साधु अयोग्य प्रतीत न हो तो उसे उस पद पर प्रतिष्ठित करना चाहिए। अयोग्य प्रतीत होने पर किसी अन्य योग्य साधु को वह पद प्रदान करना चाहिए। अन्य योग्य साधु के अभाव में आचार्य के सुझाव के अनुसार किसी भी साधु को अस्थायी रूप से कोई भी पद प्रदान किया जा सकता है। अन्य योग्य साधु के तैयार हो जाने पर अस्थायी पदाधिकारी को अपने पद से अलग हो जाना चाहिए।

आचार्य का सामान्य कार्य अपने अधीनस्थ साधु-साध्वी-वर्ग की सब तरह की देख-रेख रखना है। वह उनका मुख्य अधिकारी होता है। उसका विशेष कार्य साधु-साध्वियों को उच्च कक्षा की शिक्षा प्रदान करना है—उच्च अध्यापन करना है। आचार्य के बाद उपाध्याय का स्थान है और उसके बाद प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणावच्छेदक, रात्निक अथवा रत्नाधिक आदि का।

उपाध्याय :

उपाध्याय का मुख्य कार्य साधु-साध्वियों को प्राथमिक एवं माध्यमिक कक्षा की शिक्षा प्रदान करना है। व्यवहार सूत्र के

तृतीय उद्देश में उपाध्याय-पद की योग्यताओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो कम से कम तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाला है, श्रमणाचार में कुशल है, संयम में सुस्थित है, प्रवचन में प्रवीण है, प्रायश्चित्त प्रदान करने में समर्थ है, गच्छ के लिए क्षेत्रादि का निर्णय करने में निष्णात है, निर्दोष आहारादि की गवेषणा में निपुण है, संक्लिष्ट परिणामों—भावों से अस्पृष्ट है, चारित्रवान् है, बहुश्रुत है वह उपाध्याय-पद पर प्रतिष्ठित करने योग्य है।

प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणावच्छेदक व रत्नाधिक

प्रवर्तक का मुख्य कर्तव्य साधु-साध्वियों को श्रमणाचार की प्रवृत्ति में प्रवृत्त करना एवं तद्विषयक शिक्षा देना है। प्रवर्तक श्रमण-संघ का आचाराधिकारी होता है। वह आचार व विचार दोनों में कुशल होता है।

स्थविर (वृद्ध) तीन प्रकार के कहे गये हैं: जाति-स्थविर, सूत्र-स्थविर और प्रव्रज्या-स्थविर। साठ वर्ष की आयु होने पर श्रमण जाति-स्थविर होता है। स्थानांगादि सूत्रों का ज्ञाता साधु सूत्र-स्थविर कहलाता है। दीक्षा ग्रहण करने के बीस वर्ष बाद अर्थात् बीस वर्ष की दीक्षापर्याय होजाने पर निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या-स्थविर कहलाने लगता है। स्थविर का मुख्य दायित्व श्रमण-संघ में प्रविष्ट होने वाले निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को श्रमणधर्मोपयोगी प्रारंभिक शिक्षा प्रदान करना है।

गणी का मुख्य कार्य अपने गण को सूत्रार्थ देना अर्थात्

शास्त्र पढ़ाना है। गणी को वाचनाचार्य अथवा गणधर भी कहा जाता है।

गणावच्छेदक अमुक गच्छ अथवा वर्ग का नायक होता है। उस वर्ग के समस्त साधुओं का नियन्त्रण उसके हाथ में होता है।

श्रमण-संघ के विशिष्ट ज्ञानाचारसम्पन्न निर्ग्रन्थ रात्निक अथवा रत्नाधिक कहलाते हैं। ये महानुभाव विविध अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों पर आचार्यादि की सहायता के लिए सदैव तत्पर रहते हैं।

मूलाचार, अनगारधर्मामृत आदि दिगम्बर ग्रंथों में भी श्रमण-संघ के विशिष्ट पुरुषों अथवा अधिकारियों के नाम लगभग इसी रूप में मिलते हैं। उनमें आचार्य, उपाध्याय, गणधर, स्थविर, प्रवर्तक, रात्निक आदि नाम उपलब्ध होते हैं।

निर्ग्रन्थी-संघ :

निर्ग्रन्थ-संघ की ही भांति निर्ग्रन्थी-संघ भी आचार्य एवं उपाध्याय के ही अधीन होता है। ऐसा होते हुए भी उसके लिए भिन्न व्यवस्था करना अनिवार्य है क्योंकि उसका संगठन स्वतन्त्र ही होता है। निर्ग्रन्थियों को निर्ग्रन्थों के साथ बैठने, उठने, आने, जाने, खाने, पीने, रहने, फिरने आदि की मनाही है। निर्ग्रन्थियों को अपने ही वर्ग में रहकर संयम की आराधना करनी होती है। यही कारण है कि निर्ग्रन्थी-संघ में भी विशिष्ट पदाधिकारियों की नियुक्तियाँ की जाती हैं। इस प्रकार की नियुक्तियाँ

मुख्यतः निम्नोक्त चार पदों से सम्बन्धित होती हैं : प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका और प्रतिहारी। पूरे श्रमण-संघ में आचार्य का जो स्थान है वही स्थान निर्ग्रन्थी-संघ में प्रवर्तिनी का है। उसकी योग्यताएँ भी आचार्य आदि के ही समकक्ष हैं अर्थात् आठ वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाली साध्वी आचारकुशल, प्रवचनप्रवीण तथा असंक्लिष्ट चित्त वाली एवं स्थानांग-समवायांग की ज्ञाता होने पर प्रवर्तिनी के पद पर प्रतिष्ठित की जा सकती है। प्रवर्तिनी को महत्तरा के रूप में भी पहचाना जाता है। आचार्य-उपाध्याय के अधीन होने के कारण उसे महत्तमा नहीं कहा जाता। कहीं-कहीं प्रधानतम साध्वी के लिए गणिनी शब्द का भी प्रयोग हुआ है। साध्वी-संघ में गणावच्छेदिनी का वही स्थान है जो श्रमण-संघ में उपाध्याय का है। इसीलिए गणावच्छेदिनी को उपाध्याया के रूप में भी पहचाना जाता है। श्रमण-संघ में जो स्थान स्थविर का है वही स्थान साध्वीसंघ में अभिषेका का है। इसीलिए उसे स्थविरा भी कहा जाता है। प्रतिहारी रात्निक अथवा रत्नाधिक श्रमण के समकक्ष मानी जा सकती है। प्रतिहारी निर्ग्रन्थी को प्रतिश्रयपाली, द्वारपाली अथवा संक्षेप में पाली के रूप में भी पहचाना जाता है। निर्ग्रन्थी-संघ की पदाधिकारिणियाँ भी निर्ग्रन्थ पदाधिकारियों के ही समान ज्ञानाचारसम्पन्न होती हैं।

मूलाचार के सामाचार नामक चतुर्थ अधिकार में संघ के श्रमण-श्रमणियों के पारस्परिक व्यवहार का विचार करते हुए कहा गया है कि तरुण श्रमण को तरुण श्रमणी के साथ संभाषण

आदि नहीं करना चाहिए, श्रमणों को श्रमणियों के साथ नहीं ठहरना चाहिए, श्रमणियों को आचार्य से पांच हाथ दूर, उपाध्याय से छः हाथ दूर तथा अन्य साधुओं से सात हाथ दूर बैठ कर वंदना करनी चाहिए। श्रमणियों को पारस्परिक संरक्षण की भावना से तीन, पांच अथवा सात की संख्या में भिक्षा के लिए जाना चाहिए।

वैयावृत्य :

वैयावृत्य अर्थात् सेवा के विषय में स्थविरकल्पिकों के लिए सामान्य नियम यही है कि साधु साध्वी से एवं साध्वी साधु से किसी प्रकार का काम न ले। अपवाद के रूप में साधु-साध्वी परस्पर सेवा-सुश्रूषा कर सकते हैं। सर्पदंश आदि विषम परिस्थिति में आवश्यकतानुसार कोई भी स्त्री अथवा पुरुष साधु-साध्वी की औषधोपचाररूप सेवा कर सकता है। जिनकल्पिकों को त्यागी अथवा गृहस्थ किसी से किसी भी प्रकार की सेवा लेना अथवा करना अकल्प्य है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए सामान्यतया दस प्रकार की सेवा आचरणीय बताई गई है : १. आचार्य की सेवा, २. उपाध्याय की सेवा, ३. स्थविर की सेवा, ४. तपस्वी की सेवा, ५. शैक्ष अर्थात् छात्र की सेवा, ६. ग्लान अर्थात् रोगी की सेवा, ७. सार्धमिक की सेवा, ८. कुल की सेवा, ९. गण की सेवा, १०. संघ की सेवा। इस प्रकार की सेवा से महानिर्जरा का लाभ होता है।

दीक्षा :

प्रव्रज्या अथवा दीक्षा के विषय में सामान्य नियम यही है कि साधु स्त्री को तथा साध्वी पुरुष को दीक्षित न करे। यदि किसी ऐसे स्थान पर स्त्री को वैराग्य हुआ हो जहाँ आसपास में साध्वी न हो तो साधु उसे इस शर्त पर दीक्षा दे सकता है कि दीक्षा देने के बाद उसे यथाशीघ्र किसी साध्वी को सुपुर्द कर दे। इसी शर्त पर साध्वी भी पुरुष को दीक्षा प्रदान कर सकती है। तात्पर्य इतना ही है कि दीक्षा के नाम पर किसी प्रकार से साधु स्त्रीसंग के दोष का भागी न बने और साध्वी पुरुषसंग के दोष से दूर रहे। इसे ध्यान में रखते हुए दीक्षा देने की औपचारिक विधि किसी भी योग्य निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी द्वारा सम्पन्न की जा सकती है। दीक्षित होने के बाद साधु का निर्ग्रन्थ-वर्ग में एवं साध्वी का निर्ग्रन्थी-वर्ग में सम्मिलित होना आवश्यक है। निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को नियमानुसार किसी भी अवस्था में आठ वर्ष से कम आयु के बालक-बालिकाओं को दीक्षा नहीं देनी चाहिए। दीक्षा के लिए विचारों की परिपक्वता भी आवश्यक है। अपरिपक्व आयु, अपरिपक्व विचार एवं अपरिपक्व वैराग्य दीक्षा के पवित्र उद्देश्य की संप्राप्ति में बाधक सिद्ध होते हैं। पंडक, क्लीब आदि अयोग्य पुरुषों को भी दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

प्रायश्चित्त :

प्रायश्चित्त का अर्थ है व्रत में लगने वाले दोषों के लिए समुचित दण्ड। श्रमण-संघ की व्यवस्था सुचारु रूप से चले, इसके

लिए दण्डव्यवस्था आवश्यक है। किसी भी व्यवस्था के लिए चार बातों का विचार आवश्यक माना जाता है : १. उत्सर्ग, २. अपवाद, ३. दोष, ४. प्रायश्चित्त। किसी विषय का सामान्य अथवा मुख्य विधान उत्सर्ग कहलाता है। विशेष अथवा गौण विधान का नाम अपवाद है। उत्सर्ग अथवा अपवाद का भंग दोष कहलाता है। दोष से सम्बन्धित दण्ड को प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रायश्चित्त से लगे हुए दोषों की शुद्धि होने के साथ ही साथ नये दोषों की भी कमी होती जाती है। यही प्रायश्चित्त की उपयोगिता है। यदि प्रायश्चित्त से न तो लगे हुए दोषों की शुद्धि हो और न नये दोषों की कमी तो वह निरर्थक है—निरुपयोगी है।

जीतकल्प सूत्र में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए दस प्रकार के प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है : १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. उभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. अनवस्थाप्य, १०. पारांचिक। इन दस प्रकारों में से अन्तिम दो प्रकार चतुर्दशपूर्वधर (प्रथम भद्रबाहु) तक ही विद्यमान रहे। तदनन्तर उनका विच्छेद हो गया—व्यवहार बंद हो गया।

मूलाचार के पंचाचार नामक पंचम अधिकार में भी प्रायश्चित्त के दस ही प्रकार बताये गये हैं। उनमें अन्तिम दो के सिवाय सब नाम वही हैं जो जीतकल्प में हैं। अन्तिम दो प्रकार परिहार व श्रद्धान के रूप में हैं। संभवत: अन्तिम दो प्रायश्चित्तों का व्यवहार बंद हो जाने के कारण यह अन्तर हो गया हो।

आहारादिग्रहण, बहिर्निर्गम, मलोत्सर्ग आदि प्रवृत्तियों में

लगने वाले दोषों की शुद्धि के लिए आलोचनारूप प्रायश्चित्त का सेवन किया जाता है। आलोचना का अर्थ है सखेद अपराध-स्वीकारोक्ति।

प्रमाद, आशातना, अविनय, हास्य, विकथा, कन्दर्प आदि दोषों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमणरूप प्रायश्चित्त का सेवन किया जाता है। प्रतिक्रमण का अर्थ है दुष्कृत को मिथ्या करना अर्थात् किये हुए अपराधों से पीछे हटना।

अनात्मवशता, दुश्चिन्तन, दुर्भाषण, दुश्चेष्टा आदि अनेक अपराध आलोचना व प्रतिक्रमण उभय के योग्य हैं।

अशुद्ध आहार आदि का त्याग करना विवेक प्रायश्चित्त कहलाता है। विवेक का अर्थ है अशुद्ध भक्तादि का विचार-पूर्वक परिहार।

गमनागमन, श्रुत, स्वप्न आदि से सम्बन्धित दोषों की शुद्धि के लिए व्युत्सर्ग अर्थात् कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर की ममता का त्याग।

ज्ञानातिचार आदि विभिन्न अपराधों की शुद्धि के लिए एकाशन, उपवास, षष्ठभक्त, अष्टमभक्त आदि तपस्याओं का सेवन किया जाता है। इसी का नाम तप प्रायश्चित्त है।

छेद का अर्थ है दीक्षापर्याय में कमी। इस प्रायश्चित्त में विभिन्न अपराधों के लिए दीक्षावस्था में विभिन्न समय की कमी कर दी जाती है। इस कमी से अपराधी श्रमण का स्थान संघ में अपेक्षाकृत नीचा हो जाता है। जो तप के गर्व से उन्मत्त है अथवा तप के लिए सर्वथा अयोग्य है, जिसकी तप पर तनिक

भी श्रद्धा नहीं है अथवा जिसका तप से दमन करना अति कठिन है उसके लिए छेद प्रायश्चित्त का विधान है।

पंचेन्द्रियघात, मैथुनप्रतिसेवन आदि अपराधों के लिए मूल प्रायश्चित्त का विधान है। मूल का अर्थ है अपराधी की पूर्व प्रव्रज्या को मूलतः समाप्त कर उसे पुनर्दीक्षित करना अर्थात् नई दीक्षा देना।

तीव्र क्रोधादि से प्रदुष्ट चित्त वाले घोर परिणामी श्रमण के लिए अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का विधान है। अनवस्थाप्य का अर्थ है अपराधी को तुरन्त नई दीक्षा न देकर अमुक प्रकार की तपस्या करने के बाद ही पुनः दीक्षित करना।

पारांचिक प्रायश्चित्त देने का अर्थ है अपराधी को हमेशा के लिए संघ से बाहर निकाल देना। तीर्थंकर, प्रवचन, आचार्य, गणधर आदि की अभिनिवेशवश पुनः-पुनः आशातना करने वाला पारांचिक प्रायश्चित्त का अधिकारी होता है। उसे श्रमण-संघ से स्थायीरूप से बहिष्कृत कर दिया जाता है। किसी भी अवस्था में उसे पुनः प्रव्रज्या प्रदान नहीं की जाती।

बृहत्कल्प के चतुर्थ उद्देश में दुष्ट एवं प्रमत्त श्रमण के लिए पारांचिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है तथा सार्धमिक-स्तैन्य, अन्यधार्मिकस्तैन्य एवं मुष्टिप्रहार के लिए अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गयी है।

निशीथ सूत्र में चार प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है : गुरुमासिक, लघुमासिक, गुरुचातुर्मासिक और लघुचातुर्मासिक। यहाँ गुरुमास अथवा मासगुरु का अर्थ उपवास तथा लघुमास

अथवा मासलघु का अर्थ एकाशन अर्थात् अर्ध-उपवास समझना चाहिए। इस प्रकार गुरुमासिक आदि तप-प्रायश्चित्त के ही भेद हैं।

अंगादान का मर्दन करना, अंगादान के ऊपर की त्वचा दूर करना, अंगादान को नली में डालना, पुष्पादि सूंघना, पात्र आदि दूसरों से साफ करवाना, सदोष आहार का उपयोग करना आदि क्रियाएँ गुरुमासिक प्रायश्चित्त के योग्य हैं।

दारुदण्ड का पादप्रोंछन बनाना, पानी निकलने के लिए नाली बनाना, दानादि लेने के पूर्व अथवा पश्चात् दाता की प्रशंसा करना, निष्कारण परिचित घरों में प्रवेश करना, अन्य-तीर्थिक अथवा गृहस्थ की संगति करना, शय्यातर अर्थात् अपने ठहरने के मकान के मालिक के यहाँ का आहार-पानी ग्रहण करना आदि क्रियाएं लघुमासिक प्रायश्चित्त के योग्य हैं।

स्त्री अथवा पुरुष से मैथुनसेवन के लिए प्रार्थना करना, मैथुनेच्छा से हस्तकर्म करना, नग्न होना, निर्लज्ज वचन बोलना, प्रेमपत्र लिखना, गुदा अथवा योनि में लिंग डालना, स्तन आदि हाथ में पकड़ कर हिलाना अथवा मसलना, पशु-पक्षी को स्त्री-रूप अथवा पुरुषरूप मानकर उनका आलिंगन करना, मैथुनेच्छा से किसी को आहारादि देना, आचार्य की अवज्ञा करना, लाभा-लाभ का निमित्त बताना, किसी श्रमण-श्रमणी को बहकाना, किसी दीक्षार्थी को भड़काना, अयोग्य को दीक्षा देना, अचेल होकर सचेल के साथ रहना अथवा सचेल होकर अचेल के साथ

रहना अथवा अचेल होकर अचेल के साथ रहना आदि क्रियाएं गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त के योग्य हैं।

प्रत्याख्यान का बार-बार भंग करना, गृहस्थ के वस्त्र, पात्र, शय्या आदि का उपयोग करना, प्रथम प्रहर में ग्रहण किया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर तक रखना, अर्धयोजन अर्थात् दो कोस से आगे जाकर आहार लाना, विरेचन लेना अथवा औषधि का सेवन करना, शिथिलाचारी को नमस्कार करना, वाटिका आदि सार्वजनिक स्थानों में टट्टी-पेशाब डाल कर गंदगी करना, गृहस्थ आदि को आहार-पानी देना, दम्पति के शयनागार में प्रवेश करना, समान आचारवाले निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी को स्थान आदि की सुविधा न देना, गीत गाना, वाद्ययन्त्र बजाना, नृत्य करना, अस्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करना अथवा स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय न करना, अयोग्य को शास्त्र पढ़ाना अथवा योग्य को शास्त्र न पढ़ाना, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ को पढ़ाना अथवा उससे पढ़ना आदि क्रियाएं लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त के योग्य हैं।

निशीथ सूत्र के अन्तिम उद्देश में सकपट आलोचना के लिए निष्कपट आलोचना से एकमासिकी अतिरिक्त प्रायश्चित्त का विधान किया गया है तथा प्रायश्चित्त करते हुए पुनः दोष लगने पर विशेष प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है। व्यवहार सूत्र के प्रथम उद्देश में भी इस विषय पर प्रकाश डाला गया है।

कहीं-कहीं ऐसा भी देखने में आता है कि एक ही प्रकार के दोष के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रायश्चित्त नियत किये गये हैं।

इसका कारण परिस्थिति की भिन्नता, अपराधी की भावना एवं अपराध की तीव्रता-मंदता है। ऊपर से समान दिखाई देने वाले दोष में परिस्थिति की विशेषता एवं अपराधी के आशय के अनुरूप तारतम्य होना स्वाभाविक है। इसी तारतम्य के अनुसार अपराध की तीव्रता-मंदता का निर्णय कर तदनुरूप दण्ड-व्यवस्था की जाती है। अतः एक ही प्रकार के दोष के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रायश्चित्त देने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

सामान्यतया प्रायश्चित्त प्रदान करने का अधिकार आचार्य को होता है। परिस्थितिविशेष को ध्यान में रखते हुए अन्य अधिकारी भी इस अधिकार का उपयोग कर सकते हैं। अपराध-विशेष अथवा अपराधीविशेष को दृष्टि में रखते हुए सम्पूर्ण संघ भी एतद्विषयक आवश्यक कार्यवाही कर सकता है। इस प्रकार प्रायश्चित्त देने का अथवा प्रायश्चित्त के निर्णय का कार्य परिस्थिति, अपराध एवं अपराधी को दृष्टि में रखते हुए आचार्य, अन्य कोई पदाधिकारी अथवा सकल श्रमण-संघ सम्पन्न करता है।

●

ग्रन्थ-सूची

अनगार-धर्मामृत (स्वोपज्ञ टीकासहित), आशाधर, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई, १९१९.

अनुप्रेक्षा (कार्तिकेयानुप्रेक्षा), कार्तिकेय अथवा कुमार, राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास (आणंद), १९६०.

आचारांग (निर्युक्ति व शीलांककृत टीकासहित), आगमोदय समिति, मेहसाना, १९१६.

आचारांग सूत्र, गुज० अनु०---रवजी भाई देवराज; जैन प्रिंटिंग प्रेस, अहमदाबाद, १९०२.

आचारांग सूत्र (प्रथम श्रुतस्कंध), गुज० अनु०—सौभाग्यचन्द्रजी महाराज, महावीर साहित्य प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद.

आदिपुराण (महापुराण भा० २), जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५१.

आवश्यक (हरिभद्रकृत टीकासहित), आगमोदय समिति, मेहसाना, १९१६.

उत्तराध्ययन, जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद, १९३५.

उपासकदशांग (अभयदेवकृत टीकासहित), आगमोदय समिति, मेहसाना, १९२०.

कर्मग्रंथ—१-४, देवेन्द्रसूरि, आत्मानंद जैन ग्रंथमाला, भावनगर, १९३४.

कल्पसूत्र, साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, १९५२.

गुणस्थान क्रमारोह, रत्नशेखरसूरि, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर.

गृहस्थ-धर्म, मुनि फूलचन्द्र 'श्रमण', जैन शिक्षा निकेतन, होशियारपुर, १९६३.

चारित्रप्राभृत (षट्प्राभृतादिसंग्रह), कुन्दकुन्द, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई, १९२०.

जीतकल्प (स्वोपज्ञ भाष्यसहित), जिनभद्र, बबलचन्द्र केशवलाल मोदी, अहमदाबाद, वि० सं० १९९४.

जैन दृष्टिए योग, मोतीचंद गिरिधरलाल कापड़िया, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९५४.

तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, भारत जैन महामंडल, वर्धा, १९५२.

दर्शन और चिंतन, पं० सुखलालजी, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, १९५७.

दशवैकालिक (हरिभद्रकृत टीकासहित), देवचन्द्र लालभाई जैन ग्रंथमाला, बम्बई, १९१८.

दशाश्रुतस्कंध (निर्युक्ति व चूर्णिसहित), पंन्यास मणिविजय गणिवर ग्रंथमाला, भावनगर, वि० सं० २०११.

निशीथ (भाष्य व चूर्णिसहित), सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५७–१९६०.

पंचप्रतिक्रमण, आत्मानंद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा, १९२१.

पाक्षिकसूत्र, मनसुखलाल नागरचंद, भावनगर, वि० सं० १९९०.

पिंडनिर्युक्ति, देवचन्द्र लालभाई जैन ग्रंथमाला, बम्बई, १९१८.

बृहत्कल्प (भाष्य व मलयगिरि-क्षेमकीर्तिकृत टीकासहित), आत्मानंद जैनसभा, भावनगर, १९३३–१९४२.

भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति), आगमोदय समिति, मेहसाना, १९१८–२१.

मज्झिमनिकाय, अनु० राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३३.

महानिशीथ, मुनि पुण्यविजयजी की हस्तलिखित प्रति.

महावीरस्वामीनो आचारधर्म, गोपालदास जीवाभाई पटेल, नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद, वि० सं० १९९२.

मूलाचार (वसुनंदिकृत टीकासहित); वट्टकेर, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई, वि० सं० १९७७–१९८०.

मूलाराधना (अपराजित व आशाधरकृत टीकाओं, अमित-गतिकृत श्लोकों तथा हिन्दी टीकासहित), शिवकोटि, सखाराम नेमचंद दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९३५.

योगदृष्टिसमुच्चय, हरिभद्रसूरि, देवचंद लालभाई जैन ग्रंथमाला, बम्बई, १९१३.

योगवासिष्ठ, अच्युत ग्रंथमाला, काशी.

योगसूत्र, पतंजलि, बम्बई, १९१७.

रत्नकरंड-श्रावकाचार (प्रभाचन्द्रकृत टीकासहित), समन्त-भद्र, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई, १९२६.

वसुनन्दि-श्रावकाचार (हिन्दी अनुवादसहित), वसुनन्दि, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२.

व्यवहार (भाष्य व मलयगिरिकृत टीकासहित), केशवलाल प्रेमचंद, अहमदाबाद, १९२६–१९२८.

श्रमण-सूत्र, उपाध्याय अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, वि० सं० २००७.

श्रावक-धर्म, महासती उज्ज्वलकुमारीजी, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५४.

सागार-धर्मामृत (स्वोपज्ञ टीकासहित),आशाधर, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई, १६१७.

Development of Moral Philosophy in India, Surama Dasgupta, Orient Longmans, Calcutta, 1961.

Doctrine of Karman in Jain Philosophy, H. von Glasenapp, Vijibai Jivanlal Fund, Bombay, 1942.

History of Jaina Monachism, S. B. Deo, Deccan College, Poona, 1956.

Jaina Monastic Jurisprudence, S. B. Deo, Jain Cultural Research Society, Banaras, 1960.

Jaina Yoga, R. Williams, Oxford University Press, London, 1963.

Outlines of Karma in Jainism, Mohan Lal Mehta, Jain Mission Society, Bangalore, 1954.

Sacred Books of the East, Vol. 22, Hermann Jacobi, Clarendon Press, Oxford, 1884.

●

अनुक्रमणिका